www.jainworld.com

सिरि-भगवंत-पुप्फदंत-भूदबलि-पणीदे

छक्खण्डागमे

जीवट्ठाणं

तस्स

सिरि-वीरसेणाइरिय-विरइया टीका

धवला

सिध्दमणंतमणिंदियमणुवममप्पत्थ-सोक्खमणवज्जं।

केवल-पहोह-णिज्जिय-दुण्णय-तिमिरं जिणं णमह।।१।।

जो सिध्द हैं, अनन्तस्वरूप हैं, अनिन्द्रिय हैं, अनुपम हैं, आत्मस्थ सुखको प्राप्त हैं, अनवद्य अर्थात् निर्दोष है, और जिन्होंने केवलज्ञानरूप सूर्यके प्रभपुंजसे कुलस्वरूप अन्धकारको जीत लिया है, ऐसे जिन भगवान्को नमस्कार करो। अथवा, जो अनन्त-स्वरूप हैं,अनिन्द्रिय हैं, अनुपम हैं,आत्मस्थ सुखको प्राप्त हैं, अनवद्य अर्थात् निर्दोष हैं, जिन्होंने केवलज्ञानरूप सूर्यके प्रभा-पुंजसे कुनयरूप अन्धकारको जीत लिया है, और जो समस्तकर्म-शत्रुओंके जीतनेसे 'जिन' संज्ञाको प्राप्त हैं,ऐसे सिध्द परमात्माको नमस्कार करो।

१ अप्पुत्व (मु.पा.)

विशेषार्थ- ग्रंथ प्रारंभ 'सिध्द'१ (१ आदौ सकार-प्रयोग: सुखद: । तथा च 'सहौ सुखदाहदौ' । अलं. चिं. १, ४९. 'माङ्गलिक आचार्यो महत: शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिध्द-शब्दं आदित: प्रयुङ्क्ते' पात. महाभा. पृ. ५७. सितं वध्दमष्टप्रकारं कर्मेन्धनं ध्मातं दग्धं जाज्वल्यमान-शुक्लध्यानानलेन यैस्ते सिध्दा: । अथवा. 'षिधु गतौ' इति वचनात् सेधन्ति स्म अपुनरावृत्या निर्वृतिपुरीमगच्छन् । अथवा, 'षिधु संराध्दौ' इति वचनात् सेधन्ति सिध्दयन्ति स्म निष्ठितार्था भवन्ति स्म । अथवा षिधूत्र् शास्त्रे माङ्गल्ये च इति वचनात् सेधन्ति स्म शासिंतारोऽभूवन् माङ्ल्यरुपतां चानुभवन्ति स्म इति सिध्दा: । अथवा, सिध्दा: नित्या: अपर्यवसान-स्थितिकत्वात् । प्रख्याता वा भव्यैरुपलब्धगुणसंदोहत्वात् । आह च, --

ध्मातं सितं येन पुराणकर्म यो वा गतो निर्वृति-सौध-मूर्ध्नि ।

ख्यातोनुशास्ता परिनिष्ठतार्थो य:सोऽस्तु सिध्द: कृतमङ्गलो मे।। भग. सू. १, १, १,(टीका) ।

* धवला, अ. पृ. ४७४.) इस पदसे करनेका प्रयोजन यह सूचित होता है कि प्रारंभमें सं-कार का प्रयोग सुखदायक माना जाता है। 'सही सुखदाहदौ' (अलंकार चिंतामणि १/४९)सकार सुखदायक होता है, तथा हकार दुखदायक होता है।

'सिध्द' शब्दका अर्थ कृतकृत्य होता है, अर्थात्, जिन्होंने अपने करने योग्य सब कार्योको कर लिया है, जिन्होंने अनादिकालसे बंधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मोंको प्रचण्ड ध्यानरूप अग्निकेद्वारा भस्म कर दिया है, ऐसे कर्म-प्रपंच-मुक्त जीवेांकों सिध्द कहते है। अरहंत परमेष्ठी भी चार घातिया कर्मोंका नाश कर चुकेहैं, इसलिये वे भी घातिकर्म-क्षय सिध्द हैं। इस विशेषणसे जो अनादिकालसे ही ईश्वरको कर्मोंसे अस्पृष्ट मानते हैं, ऐसे सदाशिव और सांख्य मतका निराकरण हो जाता है।

अथवा षिधुङ धातु गमनार्थक भी है, जिससे सिध्द शब्दका यह अर्थ होता है, कि जो शिव-लोकमें पहुंच चुकेहै, और वहांसे लौट कर कभी नही आते। इस कथनसे मुक्त जीवोंकेपुनरागमनकी मान्यता का निराकारण हो जाता है।

अथवा षिधुङ धातु संराधनङ के अर्थमें भी आती है, जिससे यह अर्थ निकलता है, कि जिन्होंने आत्मीय गुणोंको प्राप्त कर लिया है, अर्थात, जिनकी आत्मामें अपने स्वाभाविक अनन्त गुणोंका विकास हो गया है। इस व्याख्यासे जो मानते हैंकि, 'जिसप्रकार दीपक बुझ जाने पर,न वह पृथ्वीकी ओर नीचे जाता है, न आकाशकी ओर ऊपर जाता है, न किसी दिशाकी ओर जाता है और न किसी विदिशाकी ओर जाता है किंतु तेलकेक्षय हो जानेसे केवल शान्ति अर्थात् नाशको ही प्राप्त होता है, उसीप्रकार, मुक्तिको प्राप्त होता हुआ जीव भी न नीचे भूतलकी ओर, न ऊपर नभस्तलकी ओर, न किसी दिशाकी ओर, और न किसी विदिशाकी ओर ही जाता है। किंतु स्नेह अर्थात् रागपारिणतिके नष्ट हो जानेपर, केवल शान्ति अर्थात् नाशको ही प्राप्त होता है* उस बौध्दमतका निरसन हो जाता है।

अनन्त२--(२ नास्यान्तोऽस्तीत्यनन्त: निरन्वयविनाशेनाविनश्यमान:। नास्यान्त: सीमास्त्यनन्त: केवलात्मनोऽ नन्तत्वात्। अनन्तार्थ-विषयत्वाद्वाऽनन्त: अनन्तार्थ-विषय-ज्ञान-स्वरुपत्वात्। अनन्त-कर्मांश-जयनादनन्त:। अनन्तानि वा ज्ञानादीनि यस्येत्यनन्त:। अभि. रा. कोष.) जिसका अन्त अर्थात् विनाश नही हैं उसे अनन्त कहते हैं। अथवा 'अन्त' शब्द सीमा-वाचक भी है, इसलिए जिसकी सीमा न हो उसे भी अनन्त कहते हैं। अथवा, अनन्त पदार्थोंको जाननेवालेको भी अनन्त कहते हैं। अथवा, अनन्त कर्मोंके

अंशोको जीतनेवालेको भी अनन्त कहते हैं। अथवा, अनन्तज्ञानादि गुणोंसे युक्त होनेके कारण भी अनन्त कहते हैं।

अनिन्द्रिय१--(१ 'न य विज्जइ तग्गहणे लिंगं पि अणिंदियत्तणओ'। पा.स.म.कोष अणिंदिअ।) जिसके इन्द्रियां न हो, उसे अनिन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रियां अर्थात् भावेन्द्रियां छद्मस्थ दशामें पाईं जाती हैं, परंतु सिध्द और अरहंत परमात्मा छद्मस्थ दशाको उल्लंघन करके केवलज्ञानसे विभूषित हैं, इसलिये वे अनिन्द्रिय हैं। भावेन्द्रियोंकी तरह इन दोनो परमात्माओंके भाव-मन भी नही पाया जाता है, क्योंकि तेरहवे गुणस्थानमें क्षायोपशमिक ज्ञानोंका अभाव है। अथवा, 'अणिंदिय' पद अतीन्द्रिय के अर्थमें भी आता है, जिससे यह अर्थ निकलता हैं कि वे हमारे इन्द्रिय-जन्य ज्ञानसे नही जाने जा सकते हैं, अर्थात् वे दोनो परमात्मा इन्द्रियोंके अगोचर हैं। 'अणिंदिय' पदका अर्थ अनिन्दित भी होता हैं, जिसका यह तात्पर्य है कि सिध्द और अरहंत परमेष्ठी निर्दोष होनेके कारण सबके द्वारा अनिन्दित हैं,। निन्दा उसकी की जाती है जिसमें किसी प्रकारके दोष पाये जावें, जिसका आचरण दूसरोंके लिये आहितकर हो। परंतु उक्त दोनो परमेष्ठी कामादि दोषोंसे रहित होनेके कारण उनके स्वरुपको जाननेवाला कोई भी उनकी निन्दा नही कर सकता है, इसलिये वे अनिन्दित हैं।

अनुपम२-- (२ लोके तत्सदृशो ह्यर्थ: कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते। उपमीयेत तद्येन तस्मान्निरुपमं स्मृतम्। जयध. अ. पृ. १२४९)प्रत्येक वस्तु अनन्त-धर्मात्मक है। उनके स्वरुप-निर्णयके लिये हम जो कुछ भी दृष्टान्त देकर, शब्दोंद्वारा, उसे मापनेका प्रयास करते हैं, उस मापनेको उपमा कहते हैं। 'उप' अर्थात् उपचारसे जो 'मा' माप करे वह उपमा हैं। उपचारसे मापनेका भाव यह है कि एक वस्तुके गुण-धर्म किसी दूसरी वस्तुमें तो पाये नहीं जाते हैं, इसलिये आकार, दीप्ति, स्वभाव आदि धर्मोंमें थोडी बहुत समानता होने पर भी किसी एक वस्तुके द्वारा दूसरी वस्तुका ठीक कथन तो नहीं हो सकता है, फिर भी दृष्टान्तद्वारा दूसरी वस्तुका कुछ न कुछ अनुभव या परिज्ञान अवश्य हो जाता है। इसलिये इस प्रक्रियाको उपमामें लिया जाता है। परंतु यह प्रक्रिया उन्हीं पदार्थोंमें घटित हो सकती है जो इन्द्रियगोचर हैं। सिध्दपरमेष्ठी तो अतीन्द्रिय है। अरहंत परमेष्ठीका शरीर इन्द्रियगोचर होते हुए भी उनकी पुनीत आत्माका हम संसारी जन इन्द्रियज्ञानके द्वारा साक्षात्कार नही कर सकते हैं। इसलिये उपमाद्वारा उनका परिज्ञान होना असंभव है। उन्हें यदि कोई भी समुचित उपमा दी जा सकती है, तो उन्हीकी दी जा सकती है जो कि सर्वथा छद्मस्थ ज्ञानियोंके अप्रत्यक्ष हैं। अत: सिध्द और अरहंत परमात्माको अनुपम अर्थात् उपमा रहित कहना सर्वथा युक्ति-युक्त है। 'उप' का अर्थ पास भी होता है, अर्थात् ऐसा कोई पदार्थ, जिसके लिये उसकी उपमा दी

जाती हो, पासका अर्थात् उसका ठीक तरहसे बोध करानेवाला, होना चाहिये। परंतु संसारमें ऐसा एक भी पदार्थ नही है जिसकेद्वारा हम सिध्द और अरहंत परमेष्ठीकेस्वरुपकी तुलना कर सकें। अतएव वे अनुपम हैं।

आत्मस्थसुख१-- (१ अइसयमाद-समुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं। अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुध्दुवओगप्पसिध्दाणं।। प्रवच. १,१३. स-पर बाधा-सहियं विच्छिण्णं बंध-कारणं विसमं। जं इदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा।। प्रवच १,७६. कर्म-पर-वशे सान्ते दु:खैरन्तरितोदये। पाप-बीजे सुखेऽनास्था श्रध्दानाकाङ्क्षणा स्मृता।। रत्नक. १,१२.) सुख जीवका सहजसिध्द स्वाभाविक गुण होनेसे आत्मामें सदैव विद्यमान है। कर्मोंके अभावमें वह स्वाभाविक गुण प्रगट होता है। इसलिये भगवान परमात्मा आत्मस्थ सुखस्वरुप है। इंद्रियजन्य सुख-दु:ख आत्माकेसुखगुणकी ही विभाव पर्याय है। कर्मोपाधि नष्ट होनेपर वह आत्मस्थ सुखगुण आत्मासेही उत्पन्न (प्रगट) होता है।

जिस आत्मस्थगुणकेद्वारा आत्मा, शान्ति संतोष या आनन्दका चिरकालतक अनुभव करे उसे सुख कहते है। संसारी जीव कोमल स्पर्शमें, विविध-रस-परिपूर्ण उत्तम सुस्वादु भोजनकेस्वादमें, वायुमण्डलको सुरभित करनेवाले नानाप्रकारके पुष्प, इत्र, तैल आदि सुगन्धित पदार्थोंके सूंघनेमें, रमणीय रुपोंके अवलोकनमें, श्रवण-सुख-कर संगीतोंके सुननेमें और चित्तमें प्रमोद उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकारके विषयोंकेचिन्तवनमें आनन्दका अनुभवसा करता है, और उससे अपनेको सुखी भी मानता है। पर यथार्थमें देखा जाय तो इसे 'सुख' नही कह सकते हैं। सुख जिसे कहना चाहिये वह तो आकुलताकेअभावमें ही उपलब्ध हो सकता हैं। परंतु इन सब विषयोंकेग्रहण करनेमें आकुलता देखी जाती है, क्योंकि प्रथम तो इन्द्रिय-सुखकी कारणभूत सामग्रीका उपलब्ध होना ही अशक्य है, इसलिये आकुलता होती है। दैववशात् उक्त सामग्री यदि मिल भी जाय तो उसे चिरस्थायी बनानेकेलिये और उसे अपने अनुकूल परिणमानेके लिये चिन्ता करनी पडती है। इतना सब कुछ करने पर भी उस सामग्रीसे उत्पन्न हुआ सुख चिरस्थायी ही रहेगा, यह कुछ कहा नही जा सकता है, क्योंकि संसारमें न किसीका सुख चिरस्थायी रहा है और न कोई प्राणी ही। फिर इस सुखमें रोग, शोक, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदि निमित्तोंसे सदा ही सैकडों बाधाएँ उपस्थित होती रहती हैं, जिससे वह सुखद सामग्री ही दुखकर हो जाती है। यदि इतनेसे ही बस होता, तो भी ठीक था। पर वह सुख पापका बीज है, क्योंकि संसारमें सुखकी सामग्री परिमित है और उसकेग्राहक अर्थात् उसकेअभिलाषी असंख्य है। अत: जो भी व्यक्ति सुखकी आवश्यकतासे अधिक सामग्री एकत्रित करता है, यथार्थत: देखा जाय तो, वह दूसरोंकेन्याय-प्राप्त अंशको छीनता है। इसलिये यह सुख पापका

बीज है। फिर यह सुख आरम्भादि निमित्तोंसे अनेकों जीवोंकी हिंसा करनेके बाद ही तो उपलब्ध होता हैं, अत: कर्मबन्धका कारण भी है। अत: यह इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला सुख, सुख न होकर यथार्थमें दुख ही है। किंतु जो आनन्द, जो शान्ति स्वाधीन है, अर्थात्, बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा न करके केवल आत्मासे उत्पन्न होती है, बाधा-रहित है, अविच्छिन्न एक धारासे प्रवाहित हो कर सदाकाल स्थायी है, नवीन कर्मबन्ध करानेवाली भी नही है, दूसरोंके अधिकार नही छीननेसे पापका बीज भी नहीं है, उसे ही सच्चा सुख कहा जा सकता है। सो ऐसा आत्मस्थ, अनन्त सुख सिध्द और अरहंत परमेष्ठीके ही संभव है। अत: उक्त विशेषण देना सार्थक एवं समुचित ही है।

अनवद्य-- अवद्य, पाप या दोषको कहते हैं। गुणस्थानक्रमसे आत्माके क्रमिकविकाशको देखते हुये यह भलीभांति समझमें आ जाता हैं कि ज्यों ज्यों आत्मा विशुध्दिमार्गपर अग्रेसर होता जाता है, त्यों त्यों उसमेंसे मोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, मत्सर, लोभ, तृष्णा आदि विकार-परिणति अपने आप मन्द या क्षीण होती हुई चली जाती हैं। यहां तक कि एक वह समय आ जाता है जब वह उन समस्त विकारोंसे रहित हो जाता है। इसी अवस्थाको मंगलकारने अनवद्य या निर्दोष शब्दसे प्रगट किया है।

केवलप्रभौघनिर्जितदुर्नयतिमिर१-- (१ जह एए तह अन्ने पत्तेयं दुण्णया णया सव्वे। स.त. १,१५. निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्। आ.मी. १०८. तदनेकान्त-प्रतिपत्ति: प्रमाणम्। एक-धर्म-प्रतिपत्तिर्नय:। तत्प्रत्यनीक-प्रतिक्षेपो दुर्णय:। केवल-विपक्ष-विरोध-दर्शनेन स्व-पक्षाभिनिवेशात्। अष्टश. का. १०६. अर्थस्यानेकरुपस्य धी:प्रमाणं तदंशधी:, नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्णयस्तन्निराकृति:।। अष्टस. पृ. ९०.) अन्य दृष्टिभेदोंकी अपेक्षा-रहित केवल एक दृष्टिभेदको ही दुर्नय कहते है। इससे पदार्थका बोध तो होता है, परन्तु वह बोध केवल पक्षग्राही रहता है। इससे प्राणीमात्र किसी पदार्थकी समीचीनताका अनुभव नही कर सकते हैं। इसलिये इसके द्वारा पदार्थको जानते हुए भी उसके विषयमे जाननेवाले अन्धे ही बने रहते है, क्योंकि इस दृष्टि-भेदसे पदार्थ अंशमें प्रतिभासित होता है, पदार्थ केवल उतना ही नही है, वह तो उसकी केवल एक अवस्था ही है। पदार्थ तो उस जाने हुए अंशसे और भी कुछ है। और वह दृष्टि-भेद पदार्थके उन अंशोंकी अपेक्षा ही नही करता है, बल्कि अपने द्वारा ग्रहण किये हुए अंशको ही उस पदार्थकी समग्रता समझ लेता है। अतएव वह दृष्टि-भेद पदार्थका प्रकाशक होते हुए भी अन्धकारके समान है। मंगलकारने इसी दृष्टिको सामने रखकर अन्य दृष्टिभेदोंकी अपेक्षा-रहित एक दृष्टि-भेदको 'दुर्नय-तिमिर' संज्ञा दी है। इसे सिध्द और अरिहंत परमेष्ठीने अपने केवलज्ञानरुप सूर्यके प्रभा-पुंजसे जीत लिया है। क्योंकि केवलज्ञानरुप सूर्यमें ऐसा एक भी सम्यक् दृष्टि-भेद नही है, जिसका समन्वय नही होता है, अर्थात्, उसमें सभी

सम्यक् दृष्टिभेदोंका समन्वय हो जाता हैं। अतएव वह पदार्थका पूर्ण प्रकाशक है। सूर्यके उदित होने पर जिसप्रकार अन्धकार विलीन हो जाता है, उसीप्रकार केवलज्ञानरुपी सूर्यके प्रभा-पुंजके सामने वे सर्वथा एकान्त दृष्टियाँ नही ठहर सकती हैं। अतएव केवलज्ञान-विभूषित सिध्द और अरहंत परमेष्ठीको 'केवलप्रभौघनिर्जितदुर्नयतिमिर' यह विशेषण देना युक्तियुक्त ही है।

जिन२-- (२ सकलात्म-प्रदेश-निविड-निबध्द-घातिं-कर्म-मेघ-पटल-विघटन-प्रकटीभूतानन्त-ज्ञानादि-नव-केवल-लब्धित्वात्. जिन:। गो.जी.,जी.प्र.टी.,गा. १. अनेक-विषम-भव-गहन-दु:ख-प्रापण-हेतून् कर्मारातीन् जयन्ति निर्जरयन्तीति जिना:। गो.जी, मं.प्र.टी.,गा. १.) मोह या मिथ्यात्व आत्माका सबसे अधिक अहित करनेवाला है। इसके वशमें होकर ही यह जीव अनादि-कालसे आत्म-स्वरुपको भूला हुआ संसारमें भटक रहा है। जब इस जीवको उपदेशादिकका निमित्त मिलता है और उससे 'स्व' क्या है, 'पर' क्या है, 'हित' क्या है, 'अहित' क्या है, इसका बोध करकेआत्म-कल्याणकी ओर इसकी प्रवृत्ति

बारह-अंगग्गिज्झा वियलिय-मल-मूढ-दंसणुत्तिलया।
विविह-वर-चरण-भूसा पसियउ सुय-देवया सुइरं ।। २ ।।
सयल-गण-पउम-रविणो विविहिध्दि-विराइया वि णिस्संगा।
णीराया वि कुराया गणहर-देवा पसीयंतु ।। ३ ।।

होने लगती है; परिणामोमें इतनी अधिक पवित्रता आ जाती है, कि वह केवल अपने स्वार्थकी पुष्टिके लिये दूसरोंके न्याय-प्राप्त अधिकारोंको छीननेसे ग्लानि करने लगता है; उसके पहिले बांधे हुए कर्म हलके होने लगते हैं, तथा नवीन कर्मोंकी स्थिति भी कम पडने लगती है; सांसारिक कार्योंको करते हुए भी उनमें उसे स्वभावत: अरुचिका अनुभव होने लगता है; तब कही समझना चाहिये कि यह जीव सम्यग्दर्शनके सन्मुख हो रहा है। फिर भी ऊपर जितने भी कारण बतलाये हैं, वे सम्यदर्शनकी उत्पत्तिके समर्थ कारण नहीं हैं। इनके होते हुए यदि मिथ्यात्व या मोहका उपशम करनेमें समर्थ ऐसे अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणरुप परिणाम होते हैं तो समझना चाहिये कि यह जीव सम्यग्दर्शनको पा सकता है, इनके विना नही; क्योंकि इन परिणामोंमें ही मिथ्यात्वके नष्ट करनेका सामर्थ्य है। इसतरह जब यह जीव अध:करणरुप परिणामोंको उल्लंघन करके अपूर्वकरणरुप परिणामोंको प्राप्त होता है, तब यह जिनत्वकी पहिली सीढी पर है, ऐसा समझना चाहिये। यही से जो कर्मरुपी शत्रुओंको जीते उसे जिन कहते है, इस व्याख्याके अनुसार, जिनत्वका प्रारम्भ होता है। इसके आगे जैसे जैसे कर्म-शत्रुओंका अभाव होता जाता है वैसे वैसे जिनत्व धर्मका प्रादुर्भाव होता जाता है, और बारहवे गुणस्थानके अन्तमें जब यह जीव समस्त

घातिया कर्मोंको नष्ट कर चुकता है तब पूर्णरुपसे 'जिन' संज्ञाको प्राप्त होता है, सिध्द परमेष्ठी तो समस्त कर्मोंसे रहित है, इसलिये अरहंत और सिध्द परमेष्ठी कर्मशत्रुओंके जीतनेसे साक्षात् जिन हैं, ऐसा समझना चाहिये।

इसप्रकार शास्त्रारम्भमें अनन्त आदि विशेषणोंसे युक्त अरहंत और सिध्द दोनो परमेष्ठियोंको नमस्कार किया है ।। १ ।।

जो श्रुतज्ञानके प्रसिध्द बारह अंगोंसे ग्रहण करने योग्य है, अर्थात् बारह अंगोंका समूह ही जिसका शरीर है, जो सर्व प्रकारके मल (अतीचार) और तीन मूढताओंसे रहित सम्यग्दर्शनरुप उन्नत तिलकसे विराजमान है और नाना-प्रकारके निर्मल चारित्र ही जिसके आभूषण हैं, ऐसी भगवती श्रुतदेवता चिरकाल तक प्रसन्न रहो ।। २ ।।

जो सर्व प्रकारके गण, मुनिगण अर्थात् ऋषि, यति, मुनि और अनगार, इन चार प्रकारके संघरुपी कमलोंके लिये; अथवा, मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इन चार प्रकारके संघरुपी कमलोंके लिये सूर्यके समान हैं, जो बल, बुध्दि इत्यादि नाना प्रकारकी ऋध्दियोंसे विराजमान होने पर भी अन्तरंग और बहिरंग दोनो प्रकारके परिग्रहसे रहित हैं और जो वीतरागी होने पर भी समस्त भूमण्डलके हितैषी हैं, ऐसे गणधर देव प्रसन्न होवे ।। ३ ।।

पसियउ महु धरसेणो पर-वाइ-गयोह१ (१ मु. गओह)-दाण-वर-सीहो।
सिध्दंतामिय-सायर-तरंग-संघाय-धोय-मणो ।। ४ ।।
पणमामि पुप्फदंतं दुकयंतं दुण्णयंधयार-रविं ।
भग्ग-सिव-मग्ग-कंट्टयमिसि-समिइ-वइं सया दंतं ।। ५ ।।
पणमह कय-भूय-बलिं भूयबलिं केस-वास-परिभूय-वलिं ।
विणिहय-वम्मह-पसरं वड्ढाविय-विमल-णाण-बम्मह-पसरं ।। ६ ।।

विशेषार्थ-- इस मंगलरुप गाथामें 'विविहिध्दिविराइया वि णिस्संगा' तथा 'णीराया वि कुराया' इन दो पदोंमें विरोधाभास अलंकार है। जो नाना प्रकारकी ऋध्दियोंसे विराजमान हैं वे संग अर्थात् परिग्रहरहित कैसे हो सकते हैं। उसी प्रकार जो नीराग अर्थात् वीतराग है उनके कुत्सित अर्थात् खोटा राग कैसे हो सकता है ? इस विरोधका परिहार इस प्रकार कर लेना चाहिए कि गणधरदेव 'विविहिध्दिविराइया वि' अर्थात् बल, बुध्दि आदि नाना प्रकारकी ऋध्दियोंसे युक्त होने पर भी 'णिस्संगा' अर्थात् सब प्रकारके अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहसे तथा ऋध्दियोंके उपयोगसे रहित होते हैं। उसी प्रकार वे 'णीराया वि' अर्थात्

वीतराग होने पर भी 'कुराया' अर्थात् भूमण्डलमें रहनेवाले समस्त प्राणियोंके हितैषी होते हैं। अथवा, वीतराग होने पर भी अभी पृथ्वीमण्डलपर विराजमान है, मोक्षको नहीं गये हैं ।। ३ ।।

जो परवादीरुपी हाथियोंके मदकी आकांक्षा करने वाले श्रेष्ठ सिंहके समान हैं, अर्थात् जिसप्रकार सिंहके सामने मदोन्मत्त भी हाथी नही ठहर सकता है, किंतु वह गलितमद होकर भाग खडा होता है, उसीप्रकार जिनके सामने अन्य-मतावलम्बी अपने आप गलितमद हो जाते हैं, और सिध्दान्तरुपी अमृत-सागरकी तरंगोंके समूहसे जिनका मन धुल गया है, अर्थात्, सिध्दान्तके अवगाहनसे जिन्होंने विवेकको प्राप्त कर लिया है, ऐसे. श्री धरसेन आचार्य मुझ पर प्रसन्न हो ।। ४ ।।

जो दुष्कृत अर्थात् पापोंका अन्त करनेवाले हैं, जो कुनयरुपी अन्धकारके नाश करनेके लिये सूर्यके समान हैं, जिन्होंने मोक्षमार्गके कंटकोंको (मिथ्योपदेशादि प्रतिबन्धक कारणोंको) भग्न अर्थात् नष्ट कर दिया हैं, जो ऋषियोंकी समिति अर्थात् सभाके अधिपति है, और जो निरन्तर पंचेन्द्रियोंका दमन करनेवाले हैं, ऐसे पुष्पदन्त आचार्यको मै (वीरसेन) प्रणाम करता हूं ।। ५ ।।

जो भूत अर्थात् प्राणिमात्रसे पूजे गये हैं, अथवा भूत-नामक व्यन्तर-जातिके देवोंसे पूजे गये हैं, जिन्होंने अपने केशपाश अर्थात् संयत-सुन्दर बालोंसे वलि अर्थात् जरा आदिसे उत्पन्न होनेवाली शिथिलताको परिभूत अर्थात् तिरस्कृत कर दिया है, जिन्होंने कामदेवके प्रसारको नष्ट कर दिया है, और जिन्होने निर्मल-ज्ञानके द्वारा ब्रम्हचर्यके प्रसारको बढा लिया है, ऐसे भूतबलि नामक आचार्यको प्रणाम करो ।। ६ ।।

मंगल-णिमित्त-हेऊ परिमाणं णाम तह य कत्तारं ।

वागरिय छ प्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमाइरिओ१ (१ मंगल-कारण-हेदू सत्त्थं सपमाण-णाम-कत्तारा। पढमं चि य कहिदव्वा एसा आइरिय-परिभासा।। ति.प. १, ७. गाथैषा पञ्चास्तिकाये जयसेनाचार्यकृतव्याख्यया सहोपलभ्यते। अनगारधर्मामृतेऽस्याः संस्कृतच्छाया दृश्यते।) ।। १ ।।

इदि णायमाइरिय-परंपरागयं मणेणावहारिय पुव्वाइरियायाराणुसरणं ति-रयण-हेउ त्ति पुप्फदंताइरियो मंगलादीणं छण्हं२ (२ मु. छण्णं) सकारणाणं परुवणट्ठं सुतमाह-

णमो अरिहंताणं३(३ अ.ब. अरहंताणं।।)णमो सिध्दाणं, णमो आइरियाणं ।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व-साहूणं ।। १ ।। इदि ।

विशेषार्थ-- जिस समय भूतबलि आचार्यने अपने गुरु धरसेन आचार्यसे सिध्दान्त-ग्रन्थ पढकर समाप्त किया था उस समय भूत-नामक व्यन्तर देवोंने उनकी पूजा की थी । इसका उल्लेख धवलामें आगे स्वयं किया गया है।

मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता, इन छह अधिकारोंका व्याख्यान करनेके पश्चात् आचार्य शास्त्रका व्याख्यान करे ।

विशेषार्थ-- शास्त्रके प्रारम्भमें पहिले मंगलाचरण करना चाहिए । पीछे जिस निमित्तसे शास्त्रकी रचना हुई हो, उस निमित्तका वर्णन करना चाहिए । इसके बाद शास्त्र-प्रणयनके प्रत्यक्ष और परम्परा-हेतुका वर्णन करना चाहिये । अनन्तर शास्त्रका प्रमाण बताना चाहिये । फिर ग्रन्थका नाम और आम्नायक्रमसे उसके मूलकर्ता, उत्तरकर्ता और परंपरा-कर्ताओंका उल्लेख करना चाहिये । इसके बाद ग्रंथका व्याख्यान करना उचित है: ग्रंथरचनाका यह क्रम आचार्य परंपरासे चला आ रहा है, और इस ग्रंथमें भी इसी क्रमसे व्याख्यान किया गया है ।। १ ।।

आचार्य परंपरासे आये हुए इस न्यायको मनमें धारण करके और पूर्वाचार्योंके आचार अर्थात् व्यवहार-परंपराका अनुसरण करना रत्नत्रयका कारण है, ऐसा समझकर पुष्पदन्त आचार्य सकारण मंगलादिक छहो अधिकारोंका व्याख्यान करनेके लिये मंगल-सूत्र कहते हैं-

अरिहंतोंको नमस्कार हो, सिध्दोंको नमस्कार हो, आचार्योंको नमस्कार हो, उपाध्यायोंको नमस्कार हो, और लोकमें सर्व साधुओंको नमस्कार हो ।। १ ।।

विशेषार्थ--यह मंगलसूत्र णमोकार मंत्रके नामसे प्रसिध्द है । इसके अन्तिम भागमें जो 'लोए' अर्थात् 'लोकमे' और 'सव्व' अर्थात् 'सर्व' पद आये हैं, उनका संबन्ध 'णमो अरिहंताणं' आदि प्रत्येक नमस्कार वाक्यके साथ कर लेना चाहिये । इसका खुलासा आचार्यने स्वयं आगे चलकर किया है ।।

कधमिदं सुत्तं मंगल-णिमित्त-हेउ-परिमाण-णाम-कत्ताराणं सकारणाणं परुवयं ? ण, तालपलंब-सुत्तं व देसामासियत्तादो१ (१ देशामर्शकस्य स्पष्टीकरणम्-

'जेणेदं सुत्तं देसामासियं, तेण उत्तासेसलक्खणाणि एदेंण उत्ताणि' । स. प्रतौ पृ. ४८६. 'एदं देसामासिगसुत्तं कुदो ? एगदेसपदुप्पायणेण एत्थतणसयलत्थस्स सूचयत्तादो' । स. प्रतौ पृ. ४६८. 'एदं देसामासियसुत्त देसपदुप्पायणमुहेण सूचिदाणेयत्थादो' । स. प्रतौ पृ. ५८९.। 'एदं देसामासियसुत्तं, तेणेदेण

आमासियत्थेण अणामासियत्थो उच्चदे' । स. प्रतौ पृ. ५९५. देसामासियसुत्तं आचेलक्कंत्ति तं खु ठिदिकप्पे लत्तोऽथवादिसद्दो, जह तालपलंबसुत्तम्मि ।। मूलारा ११२३

देसामासियङ इत्यादि स्थितिकल्पे वाच्ये तत्प्रथमतयोपदिष्टमाचेलक्यमिति सूत्रं देशामर्शकम् । बाह्यपरिग्रहैकदेशस्य चेलस्य परामर्शकं बाहयपरिग्रहाणामुपलक्षणार्थमुपात्तम् । यथा 'तालपलंबं ण कप्पदि' त्ति सूत्रे तालशब्दो वनस्पत्येकदेशस्य तरुविशेषस्य परामर्शको वनस्पतीनामुपलक्षणाय गृहीतः । तथा चोक्तं कल्पे, हरिदतणोसधिगुच्छा गुम्मा वल्ली लदा य रुक्खा य । एवं वणप्फदीओ तालादेसेण आदिट्ठा ।। तालेदि दलेदि त्ति य तलेव जादो त्ति उस्सिदो व त्ति । तालादिणो तरु त्ति य बणप्फदीणं हवदि णामं ।। तालस्य प्रलम्बं तालप्रलंम्बम् । प्रलम्बं च द्विविधं, मूलप्रलम्बं अग्रप्रलम्बं च । तत्र मूलप्रलम्बं भूम्यनुप्रवेशि कन्दमूलाङ्कुरादिकभ्, ततोऽन्यदग्रप्रलम्बम्, अङ्कुरप्रवालपत्रपुष्पफलादिकम् । वनस्पतिकन्दादिकमनुभोक्तुं निर्ग्रन्थानामार्याणां च न युज्यते इति । यथा "तालपलंबं ण कप्पदि त्ति" इत्यत्र सूत्रेऽर्थस्तथा सकलोऽपि बाह्यः परिग्रहो मुमुक्षूणां ग्रहीतुं न युज्यते इत्याचेलक्केति सूत्रेऽर्थ इति तात्पर्यम् । तथा चोक्तम् तद्देशामर्शकं सूत्रमाचेलक्यमिति स्थितम् । लुप्तोऽथवादिशब्दोऽत्र तालप्रलम्बसूत्रवत् ।। मूलारा. टी. आचेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंडंकिदियम्मे वदजेट्ठ-पडिक्कमणे मासं पज्जो समणकप्पो ।। मूलारा. ४२१ अहवा एगग्गहणे गहणं तज्जातियाण सव्वेसिं । तेणऽग्गपलंबेण तु सूइया सेसगपलंबा ।। बृ.क.सू. ८५५.)

शंका--यह सूत्र सकारण मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ताका प्ररुपण करता है यह कैसे संभव है ? शंकाकारका यह अभिप्राय है कि इस सूत्रमे जब कि केवल मंगल अर्थात् इष्ट-देवताको नमस्कार किया गया है तब उससे निमित्त आदि अन्य पांच अधिकारोंका स्पष्टीकरण कैसे संभव है ?

समाधान-- उपर्युक्त शंका ठीक नही है क्योंकि यह मंगलसूत्र 'ताल-प्रलम्ब' सूत्रके समान देशामर्शक होनेसे सकारण मंगलादि छहों अधिकारोंका प्ररुपण करता है, ।

विशेषार्थ-- जो सूत्र अधिकृत विषयोंके एकदेश कथनद्वारा समस्त विषयोंकी सूचना करे उसे देशामर्शक सूत्र कहते है । इसलिये 'तालप्रलम्बसूत्र' के समान यह मंगलसूत्र भी देशामर्शक है । कल्पसूत्रके कल्प्याकल्प्य नामक प्रथम उद्देश्यके प्रथम सूत्रमें 'तालपलम्ब' पद आता है, जिसका भाव यह है कि ताडवृक्षको आदि लेकर जितनी भी वनस्पतिकी जातियां है, उनके अभिन्न (विना तोडे या काटे गये) और अपक्व या कच्चे अर्थात् सचित्त मूल, पत्र फल, पुष्प आदिका लेना साधुको योग्य नहीं है। इस सूत्रमें तो केवल 'तालपलम्ब' पद ही दिया है, फिर भी उसे उपलक्षण मानकर समस्त वृक्ष-जाति और उसके पत्र

पुष्पादिकोंका ग्रहण किया गया है। उसीप्रकार यह नमस्कारात्मक सूत्र भी देशामर्शक होनेसे मंगलके साथ अधिकृत निमित्त, हेतु, परिमाण और कर्ताका भी बोधक है।

तत्थ धाउ-णिक्खेव-णय-एयत्थ-णिरुत्ति-अणियोग-द्दारेहि मंगलं परुविज्जदि । तत्थ धाऊ 'भू सत्तायां इच्चेवमाइओ सयलत्थ-वत्थाणं सद्दाणं मूल-कारणभूदो । तत्थ 'मगि' इदि अणेण धाउणा णिप्पण्णो मंगल-सद्दो१ (१ 'मङेगरलच् पा. उ. ५, ७०)। धाउ-परुवणा किमट्टं कीरदे ? 'ण, अणवगय-धाउस्स सिस्सस्स अत्थावगमाणुववत्तीदो । उक्तं च-

शब्दात्पदप्रसिध्दि:२ (२ श्लोकोऽयं 'व्याकरणात्पदसिध्दि: ' इत्येतावन्मात्रपाठभेदेन सह प्रभाचन्द्रकृत-शाकटायनन्यास-सिध्द-हैमादिव्याकरणग्रन्थेषूपलभ्यते ।) पदसिध्देरर्थनिर्णयो भवति ।

अर्थात्तत्वज्ञानं तत्वज्ञानात्परं श्रेय: ।। २ ।। इति ।

णिच्छये णिण्णए खिवदि त्ति णिक्खेवो३ (३ जुत्तीसु जुत्त मग्गे जं चउभेएण होइ खल ट्ठवणं । कज्जे सदि णामादिसु तं णिक्खेवं हवे समए ।। नयच. २६९ निक्खिप्पइ तेण तहिं तओ व निक्खेवणं व निक्खेवो । नियओ वा निच्छओ वा खेवो नासो त्ति जं भणियं ।। वि.भा. ९१२ निक्षेपणं शास्त्रादेर्नामस्थापनादिभेदैर्न्यसनं व्यवस्थापनं निक्षेप: । निक्षिप्यते नामादि-भेदैर्व्यवस्थाप्यतेऽनेनास्मादिति वा निक्षेप: । वि.भा. ९१२ म.टी९१२ म.टी.)। सो वि छव्विहो / णाम-ट्ठवणा-

उन उक्त मंगलादि छह अधिकारोंमें से पहले धातु, निक्षेप, नय, एकार्थ, निरुक्ति और अनुयोगके द्वारा 'मंगल' का प्ररुपण किया जाता है । उनमें 'भू' धातु सत्ता अर्थमें है, इसको आदि लेकर, समस्त पदार्थोंकी अवस्थाके वाचक शब्दोंका जो मूल कारण है उसे धातु कहते हैं । उनमेंसे 'मगि' धातुसे मंगल शब्दं निष्पन्न हुआ है। अर्थात् 'मगि' धातुमें 'अलच्' प्रत्यय जोड देने पर मंगल शब्द बन जाता हैं ।

शंका-- यहां धातुका निरुपण किसलिये किया जा रहा है ? शंकाकारका यह अभिप्राय है कि यह ग्रन्थ सिद्धान्त-विषयका प्ररुपक है, इसलिये इसमें धातुके कथनकी कोई आवश्यकता नहीं थी । इसका कथन तो व्याकरण-शास्त्रमें करना चाहिये।

समाधान-- ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि, जो शिष्य धातुसे अपरिचित है अर्थात् किस धातुसे कौन शब्द बना है इस बातको नहीं जानता है, उसे धातुके परिज्ञानके विना विवक्षित शब्दके अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता है। और अर्थ-बोधके लिये विवक्षित शब्दके अर्थका
ज्ञान कराना आवश्यक है । इसलिये यहांपर धातुका निरुपण किया गया है। कहा भी है --

शब्दसे पदकी प्रसिध्दि होती है, पदकी सिध्दिसे उसके अर्थका निर्णय होता हैं, अर्थ-निर्णयसे तत्वज्ञान अर्थात् हेयोपादेय विवेककी प्राप्ति होती है, और तत्वज्ञानसे परम कल्याण होता है ।। २ ।।

दव्व-खेत्त-काल-भाव-मंगलमिदि१ (१ णामणिट्ठावणादो दव्वक्खेत्ताणि कालभावा य । इय छब्भेयं भणियं मंगलमाणंदसंजणणं ।। ति.प. १, ८.)

उच्चारियमत्थपदं२ (२ जेत्तिएहि अक्खरेहि अत्थोवलध्दी होदि तेसिमक्खराणं कलावो अत्थपदं णाम । जयध.अ.पृ. १२.) णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण ।

अत्थं णयंति तच्चंतमिदि तदो ते णया भणिया३ (३ गाथेयं पाठभेदेन जयधवलायामप्युपलभ्यते । तद्यथा, उच्चारियम्मि दु पदे णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण । अत्थं णयंति ते तच्चदो वि तम्हा णया भणिया । जयध.अ.पृ. ३० सुत्तं पयं पयत्थो पय-निक्खेवो य निन्नय-प्रसिध्दी । वृ.क.सू. ३०९.) ।। ३ ।।

इदि वयणादो कय-णिक्खेवे दट्ठूण णयाणमवदारो भवदि । को णयो णाम ?

जो किसी एक निश्चय या निर्णयमें क्षेपण करता है, अर्थात् अनिर्णित वस्तुका उसके नामादिकद्वारा निर्णय कराता है उसे निक्षेप कहते हैं । वह नाम, स्थापना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे छह प्रकारका, है, और उसके संबन्धसे मंगल भी छह प्रकारका हो जाता है,। नाममंगल, स्थापनामंगल, द्रव्यमंगल, क्षेत्रमंगल, कालमंगल, और भावमंगल ।

उच्चारण किये गये अर्थ-पद और उसमें किये गये निक्षेपको देखकर अर्थात् समझकर पदार्थको ठीक निर्णयतक पहुंचा देते हैं, इसलिये वे नय कहलाते हैं ।। ३ ।।

विशेषार्थ-- आगमके किसी श्लोक, गाथा, वाक्य अथवा पदके ऊपरसे अर्थ-निर्णय करनेके लिये पहले निर्दोष पध्दतिसे श्लोकादिकका उच्चारण करना चाहिये, तदनन्तर पदच्छेद करना चाहिये, उसके बाद उसका अर्थ कहना चाहिये, अनन्तर पद-निक्षेप अर्थात् नामादि विधिसे नयोंका अवलंबन लेकर पदार्थका ऊहापोह करना चाहिये । तभी पदार्थके स्वरुपका निर्णय होता है। पदार्थ-निर्णयके इस क्रमको दृष्टिमें रखकर गाथाकारने अर्थ-पदका उच्चारण करके, और उसमें निक्षेप करके, नयोंके द्वारा, तत्व-निर्णयका उपदेश दिया है। गाथामें 'अत्थपदं' इस पदसे पद, पदच्छेद और उसका अर्थ ध्वनित किया गया है। जितने अक्षरोंसे वस्तुका बोध हो उतने अक्षरोंके समूहको 'अर्थ-पद' कहते हैं । 'णिक्खेवं' इस पदसे निक्षेप-विधिकी, और 'अत्थं णयंति तच्चंत्तं' इत्यादि पदोंसे पदार्थ-निर्णयके लिये नयोंकी आवश्यकता बतलाई गई है।। ३ ।।

पूर्वोक्त वचनकेअनुसार पदार्थमें किये गये निक्षेपको देखकर नयोंका अवतार होता है।

शंका-- नय किसे कहते है ?

णयदि त्तिं णयो१ (१ "अनन्त-पर्यायात्मकस्य वस्तुनः अन्यतम-पर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्ययुक्त्यपेक्षो निरबद्य-प्रयोगी नय इति अयं वाक्य-नयः तत्वार्थ-भाष्य-गतः ।" जयब अ.पृ. २६ स्याद्वाद-प्रविभक्तार्थ-विशेष-व्यञ्जको नयः । आ मी. १०६ वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वपर्णात्साध्य-विशेषस्य याथात्म्य-प्रापण-प्रवण-प्रयोगो नयः । स.सि. १, ३३ प्रमाण-प्रकाशितार्थ-विशेष-प्ररुपको नयः । त.रा.वा. १, ३३. प्रमाणेन वस्तु-संगृहीतार्थैकांशो नयः । श्रुत-विकल्पो वा ज्ञातुरभिप्रायी वा नयः । नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति प्राप्नोति वा नयः । आ.प. १२१. जीवादीन् पदार्थान्नयन्ति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति साधयन्ति निर्वर्तयन्ति निर्भासयन्ति उपलम्भयन्ति व्यञ्जयन्ति इति नयाः । स.त सू. १, ३५ जं णाणीण वियप्पं सुअ-भेयं वत्थु-अंस-संगहणं । तं इह णयं पउत्तं, णाणी पुण तेहिं णाणेहिं ।। न.च. १७४.) भणिओ बहूहि गुण-पज्जएहि जं दव्वं२ (२ दव्वं सल्लक्खणियं उप्पाद-व्वय-धुवत्त-संजुत्तं । गुण-पज्जयासयं वा जं तं भणंति सव्वण्हू ।। पञ्चा. १० अपरिचत्त-सहावेणुप्पाद-व्वयधुवत्तसंजुत्तं । गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति ।। प्रवच. २, ३.)।

परिमाण-खेत्त-कालंतरेसु अविणट्ठ-सब्भावं ।। ४ ।।

तित्थयर-वयण संगह-विसेस-पत्थार-मूल वायरणी ।

दव्वट्ठिओ य पज्जय-णयो य सेसा वियप्पा सिं३ (३ एनामारभ्य चतस्त्रो गाथाः सिद्धसेन-दिवाकर-प्रणीत-सन्मतितर्कं प्रथमे काण्डे गाथाङक३, ४, ५, ११ इति क्रमेणोपलभ्यन्ते।) ।। ५ ।।

दव्वट्ठिय-णय-पयई सुध्दा संगह-परुवणा-विसयो ।

पडिरुवं पुण वयणत्थ-णिच्छयो तस्स ववहरो ।। ६ ।।

अनेक गुण और उनकेअनेक पर्यायोंसहित, अथवा उनकेद्वारा, एक परिणामसे दूसरे परिणाममें एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें और एक कालसे दूसरे कालमें अविनाशी-स्वभावरुपसे रहनेवाले द्रव्यको जो ले जाता है, अर्थात् उसका ज्ञान करा देता है, उसे नय कहते हैं ।। ४ ।।

विशेषार्थ-- आगममें द्रव्यका लक्षण दो प्रकारसे बतलाया है, एक 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' अर्थात् जिसमें गुण और पर्याय पाये जाय उसे द्रव्य कहते हैं । और दूसरा 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' व 'सद् द्रव्यलक्षणम्' जो उत्पत्ति, विनाश और स्थिति-स्वभाव होता है वह सत् है, और सत् ही द्रव्यका लक्षण है। यहां पर नयकी निरुक्ति करते समय द्रव्यकेइन दोनों लक्षणोंपर दृष्टि रक्खी गई प्रतीत होती है। नय किसी

विवक्षित धर्मद्वारा ही द्रव्यका बोध कराता है। नयके इस लक्षणका संकेत भी 'गुणपज्जएहि' पदद्वारा हो जाता है। यह पद तृतीया विभक्ति सहित होनेसे उसे द्रव्यके लक्षणमें तथा निरुक्तिके साथ नयके लक्षणमें भी ले सकते हैं ।। ४ ।।

तीर्थंकरोंके वचनोंके सामान्य प्रस्तारका मूल व्याख्यान करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है और उन्हीं वचनोंके विशेष-प्रस्तारका मूल व्याख्याता पर्यायार्थिक नय है। शेष सभी नय इन दोनों नयोंके विकल्प अर्थात् भेद हैं ।। ५ ।।

विशेषार्थ-- जिनेन्द्रदेवने दिव्यध्वनिके द्वारा जितना भी उपदेश दिया है, उसका, अभेद अर्थात् सामान्यकी मुख्यतासे प्रतिपादन करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है, और भेद अर्थात् पर्यायकी मुख्यतासे प्रतिपादन करनेवाला पर्यायार्थिक नय है। ये दोनों ही नय समस्त विचारों अथवा शास्त्रोंके आधारभूत हैं, इसलिये उन्हें यहां मूल व्याख्याता कहा है । शेष संग्रह व्यवहार, ऋजुसूत्र शब्द आदि इन दोनों नयोंके अवान्तर भेद हैं ।। ५ ।।

संग्रह नयकी प्ररुपणाको विषय करना द्रव्यार्थिक नयकी शुध्द प्रकृति हैं, और वस्तुके

मूल-णिमेणं १ (१'णिमेणमवि ठाणे' देशी ना. ४, ३७.) पज्जव-णयस्स उज्जुसुद-वयण-विच्छेदो २

(२ ऋजूसूत्रवचनविच्छेदो मूलाधारो येषां नयानां ते पर्यायार्थिकाः । विच्छीद्यतेऽस्मिन् काल इति विच्छेदः । ऋजुसूत्रवचनं नाम वर्तमानवचनं, तस्य विच्छेदः ऋजुसूत्रवचनंविच्छेदः । स कालो मूल आधारो येषां नयानां ते पर्यायार्थिकाः । घ. पु. १, पृ. ८४.) ।

तस्स दु सद्दादीया साहुपसाहा ३ (३ मु साहपसाहा ।) सुहुमभेया ।।७।।

प्रत्येक भेदके प्रति शब्दार्थका निश्चय करना उसका व्यवहार है । अर्थात् व्यवहार नयकी प्ररुपणाको विषय करना द्रव्यार्थिक नयकी अशुध्द प्रकृति है ।। ६ ।।

विशेषार्थ-- वस्तु सामान्य-विशेष-धर्मात्मक है। उनमेंसे सामन्य-धर्मको विषय करना द्रव्यार्थिक और विशेष-धर्मको (पर्यायको) विषय करना पर्यायार्थिक नय है। उनमेंसे संग्रह और व्यवहारके भेदसे द्रव्यार्थिक नय दो प्रकारका है। जो अभेदको विषय करता है उसे संग्रह नय कहते है। और जो भेदको विषय करता है उसे, व्यवहार नय कहते हैं । ये दोनों ही द्रव्यार्थिक नयकी क्रमशः शुध्द और अशुध्द प्रकृति है । जब तक द्रव्यार्थिक नय घट, पट आदि विशेष भेद न करके द्रव्य सत्स्वरुप है इसप्रकार द्रव्यको अभेदरुपसे ग्रहण करता है तब तक वह उसकी शुध्द प्रकृति समझनी चाहिये । इसे ही संग्रह नय कहते हैं । तथा सत्स्वरुप जो द्रव्य है, उसके जीव और अजीव ये दो भेद हैं । जीवके संसारी और मुक्त इसतहर दो

भेद हैं । अजीव भी पुग्दल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इस तरह पांच भेदरुप है । इसप्रकार उत्तरोत्तर प्रभेदोंकी अपेक्षा अभेदको स्पर्श करता हुआ भी जब वह भेदरुपसे वस्तुको ग्रहण करता है, तब वह उसकी अशुध्द प्रकृति समझनी चाहिये । इसीको व्यवहार नय कहते है । यहां पर इतना विशेष समझना चाहिये कि वस्तुमें चाहे जितने भेद किये जावें, परंतु वे काल निमित्तक नहीं होना चाहिये, क्योंकि वस्तुमें काल निमित्तक भेदकी प्रधानतासे ही पर्यायार्थिक नयका अवतार होता है । द्रव्यार्थिक नयकी अशुध्द प्रकृतिमें द्रव्यभेद अथवा सत्ताभेद ही इष्ट है, कालनिमित्तक भेद इष्ट नहीं है ।। ६ ।।

ऋजुसूत्र वचनका विच्छेदरुप वर्तमान काल ही पर्यायार्थिक नयका मूल आधार है, और शब्दादिकनय शाखा-उपशाखारुप उसकेउत्तरोत्तर सूक्ष्म भेद हैं ।। ७ ।।

विशेषार्थ-- वर्तमान समयवर्ती पर्यायको विषय करना ऋजुसूत्र नय है । इसलिये जब तक द्रव्यगत भेदोंकी ही मुख्यता रहती है, तब तक व्यवहार नय चलता है, और जब कालनिमित्तक भेद प्रारम्भ हो जाता है, तभीसे ऋजुसूत्र नयका प्रारम्भ होता है । शब्द, समभिरुढ और एवंभूत इन तीन नयोंका विषय भी वर्तमान पर्यायमात्र है । परंतु उनमे ऋजुसूत्रकेविषयभूत अर्थकेवाचक शब्दोंकी मुख्यता से अर्थभेद इष्ट है, इसलिये उनका विषय ऋजुसूत्रसे सूक्ष्म सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम माना गया है । अर्थात् ऋजुसूत्रके विषयमें लिंग आदिसे भेद करनेवाला शब्दनय, शब्दनयसे स्वीकृत लिंग, वचनवाले शब्दोंमें व्युत्पत्तिभेदसे अर्थभेद करनेवाला समाभिरुढ नय, और पर्याय-शब्दको उस शब्दसे ध्वनित होनेवाले क्रियाकालमें ही वाचक माननेवाला एवंभूत नय समझना चाहिये । इसतरह ये शब्दादिक नय उस ऋजुसूत्र नयकी शाखा उपशाखा हैं, यह सिध्द हो जाता है । अतएव ऋजुसूत्र नय पर्यायार्थिक नयका मूल आधार माना गया है ।। ७ ।।

उप्पज्जंति वियंति य भावा णियमेण पज्जव-णयस्स ।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सदा अणुप्पण्णमविणट्ठं ।। ८ ।।

पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं, क्योंकि, प्रत्येक द्रव्यमें प्रतिक्षण नवीन-नवीन पर्यायें उत्पन्न होती है और पूर्व-पूर्व पर्यायोंका नाश होता है । किंतु द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा वे सदा अनुत्पन्न और अविनष्ट स्वभाववाले है । उनका न तो कभी उत्पाद होता है और न कभी नाश होता है, वे सदाकाल स्थितिस्वभाव रहते हैं ।। ८।।

विशेषार्थ-- उत्पाद दो प्रकारका माना गया है, उसीप्रकार व्यय भी । एक स्वनिमित्त और दूसरा परनिमित्त । इसका खुलासा इसप्रकार समझना चाहिये कि प्रत्येक द्रव्यमें आगम प्रमाणसे अगुरुलघुगुणके अनन्त अविभागप्रतिच्छेद माने गये हैं। जो षड्गुणहानि और षड्गुणवृध्दीरुपसे निरंतर प्रवर्तमान रहते हैं ।

इसलिये इनके आधारसे प्रत्येक द्रव्यमें उत्पाद और व्यय हुआ करता है । इसीको स्वनिमित्तोत्पाद-व्यय कहते हैं । उसीप्रकार पर निमित्तसे भी द्रव्यमें उत्पाद और व्ययका व्यवहार किया जाता है । जैसे, स्वर्णकारने कडेसे कुण्डल बनाया । यहां पर स्वर्णकारके निमित्तसे कडेरुप सोनेकी पर्याय नष्ट होकर कुण्डलरुप पर्यायका उत्पाद हुआ है और इसमें स्वर्णकार निमित्त है, इसलिये इसे पर-निमित्त उत्पाद-व्यय समझ लेना चाहिये । इसी प्रकार आकाशादि निष्क्रिय द्रव्योंमें भी स्वपर-निमित्त उत्पाद अैर व्यय समझ लेना चाहिये । क्योंकि आकाशादि निष्क्रिय द्रव्य दूसरे पदार्थोंके अवगाहन, गति आदिमें कारण पडते हैं। और अवगाहन, गति आदिमें निरन्तर भेद दिखाई देता है। इसलिये अवगाहन, गति आदिके कारण भी भिन्न होने चाहिये । स्थित वस्तुके अवगाहनमें जो आकाश कारण है उससे भिन्न दुसरा ही आकाश क्रिया-परिणत वस्तुके अवगाहनमें कारण है ।इसतरह अवगाह्यमान वस्तुके भेदसे आकाशमें भेद सिध्द हो जाता है । और इसलिये आकाशमें पर-निमित्तसे भी उत्पाद-व्ययका व्यवहार किया जाता है । इसी प्रकार धर्मादिक द्रव्योंमें भी पर निमित्तसे उत्पाद और व्यय समझ लेना चाहिये। इसप्रकार यह सिध्द हो गया कि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ उत्पन्न भी होते हैं और नाशको भी प्राप्त हाते हैं । इस प्रकार अनन्त-कालसे अनन्त पर्याय-परिणत होते रहने पर भी द्रव्यका कभी भी नाश नहीं होता है । और न एक द्रव्यके गुण-धर्म बदलकर कभी दुसरे द्रव्य-रुपही हो जाते हैं । अतएव द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ सर्वदा स्थित-स्वभाव हैं ।।८।।

तत्थ णेगम-संगह-ववहार-णएसु सव्वे एदे णिक्खेवा १ (१ णेगम-संगह ववहारा सव्वे इच्छंति । कसाय-पाहुड चुण्णि (जयध. अ.) पृ. ३०) हवंति, तव्विसयम्मि तब्भव २ (२ सामान्यं व्दंधा, तिर्यगूर्ध्वताभ्भेदात् । सदृशपरिणामस्तिर्यक्, खण्ड-मुण्डादिषु गोत्ववत् । परापरविवर्तव्यापि-द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु। प. मु. ४, ३-५.) -सारिच्छ-सामण्णम्हि सव्व-णिक्खेव-संभवादो । कधं दव्वट्ठिय-णये भाव णिक्खे-वस्स संभवो ? ण, वट्टमाण-पज्जायोवलक्खियं दव्वं भावो इदि दव्वट्ठियणयस्त वट्टमाण-मवि आरंभप्पहुडि आ उवरमादो । संगहे सुध्द-दव्वट्ठिए वि भाव-णिक्खेवस्स अत्थित्तं ण विरुज्झदे, सुवकुक्खि३ (३ मु, सुकुक्खि।)-णिक्खित्तासेस-विसेस-सत्ताए सव्व-कालमवट्ठिदाए भावब्भुवगमादो त्ति ।

उन सात नयोंमेंसे नैगम, संग्रह और व्यवहार, इन तीन नयोंमें नाम, स्थापना आदि सभी निक्षेप हेते हैं, क्योंकि, इन नयोंके विषयभूत तद्भव-सामान्य और सादृश्य-सामान्यमें सभी निक्षेप संभव हैं ।

शंका-- द्रव्यार्थिकनयमें भावनिक्षेप कैसे संभव है ? अर्थात् जिस पदार्थमें भावनिक्षेप होता है वह तो उस पदार्थकी वर्तमान पर्याय है, परंतु द्रव्यार्थिकनय सामान्यको विषय करता है, पर्यायको नहीं । इसलिये

द्रव्यार्थिक नयमें जिसप्रकार दूसरे निक्षेप घटित हो जाते हैं उसप्रकार भावनिक्षेप घटित नही हो सकता है । भावनिक्षेपका अन्तर्भाव तो पर्यायार्थिक नयमें संभव है ?

समाधान - ऐसा नहीं है, क्योंकि, वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्यको ही भाव कहते है, और वह वर्तमान पर्याय भी द्रव्यकी आरम्भसे लेकर अन्ततककी पर्यायोंमें आ ही जाती है । तथा द्रव्य अर्थात् सामान्य, द्रव्यार्थिक नयका विषय है जिसमें द्रव्यकी त्रिकालवर्ती पर्यायें अन्तर्निहित हैं। अतएव द्रव्यार्थिक नयमें भावनिक्षेप भी बन जाता है । यहां पर पर्यायकी गौणता और द्रव्यकी मुख्यतासे भावनिक्षेप का द्रव्यार्थिक नयमें अन्तर्भाव समझना चाहिये ।

इसप्रकार शुध्द द्रव्यार्थिक संग्रह नयमें भी भावनिक्षेपका अन्तर्भाव विरोधको प्राप्त नहीं होता है, क्यों कि जो महासत्ता अपनी कुक्षिमें समस्त विशेष सत्ताओंको समाविष्ट किये हुए है और जो सदाकाल अवस्थित है उसे ही भावरुपसे स्वीकार किया गया है ।

अभेदरुपसे वस्तुको जब भी ग्रहण किया जायगा, तब ही वह वर्तमान पर्यायसे युक्त होगी ही, इसलिये वर्तमान पर्यायका अन्तर्भाव महासत्तामें हो जाता है । और शुध्द संग्रह नयका महासत्ता विषय है, अतएव संग्रह नयमें भी भावनिक्षपेका अन्तर्भाव हो जाता है । यहां पर भी पर्यायकी गौणता और द्रव्यकी मुख्यता समझना चाहिये ।

णामं ठवणा दविए त्ति एस दव्वट्ठियस्स णिक्खेवो ।

भावो दु पज्जवट्ठिय-परुवणा एस परमट्ठो१ (१ स. त. १, ६. नामोक्तं स्थापनाद्रव्यं द्रव्यार्थिकनयार्पणाद् । पर्यायार्थार्पणाद् भावस्तैन्यसिः सम्यगीरितः ।। त. श्लो. वा. १, ६. ६९ नामाइतियं दवट्ठियस्स भावो य पज्जवनयस्य । संगह ववहारा पढमगस्स सेसा य इयरस्स।। वि. भा. ७५. पर्यायार्थिकेन पर्यायतत्वधिगन्तव्यम्, इतरेषां नामस्थापनाद्रव्याणां द्रव्यार्थिक-नयेन सामान्यत्मकत्वात् । स. सि. १, ६. वृत्ति.) ।। ९ ।।

अणेण सम्मइ-सुत्तेण सह कधमिदं वक्खाणं ण विरुज्झदे ? इदि ण, तत्थ पज्जायस्सलक्खण-क्खइणो भावब्भुवगमादो ।

उज्जुसुदे २ (२ उजुसुदो ठवण-वज्जे । कसाय-पाहुड-चुण्णि (जयध. अ;) पृ. ३०.) ट्ठवण-णिक्खेवं बज्जिऊण सव्वे णिक्खेवा हवंति, तत्थ सारिच्छ-सामण्णाभावादो ।

कधमुज्जुसुदे पज्जवट्ठिए दव्व णिक्खेवो त्ति ? ण, तत्थ वट्टमाण-समयाणंत-गुण-ण्णिद-एग-दव्व-संभवादो । ण तत्थ णाम-णिक्खेवाभावो वि, सद्दोवलध्दि-काले णिय-तव्वाचयत्तुवलंभादो३ (३ मु

णियतवाचयत्तुवलंभादो ।) सद्द४ (४ सद्द-णयस्य णाम-भाव-णिक्खेवा । कसाय-पाहुड-चुण्णि । (जयध. अ,) पृ. ३१.) -समभिरुढ-एवंभूद-णएसु वि णाम-भाव-णिक्खेवा हवंति, तेंसि चेय तत्थ संभवादो । एत्थ किमट्ठं णय-परुवणमिदि ?

शंका - नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीनों द्रव्यार्थिक नयके निक्षेप है, और भाव पर्यायार्थिक नयकी प्ररुपणा है । यही परमार्थ सत्य है ।। ९ ।।

सन्मतिकर्क्केइस कथनसे 'भावनिक्षेपका द्रव्यार्थिक नयमें अथवा संग्रह नयमें भी अन्तर्भाव होता है' यह व्याख्यान क्यों नही विरोधको प्राप्त होगा ?

शंकाकारका यह अभिप्राय है, कि सन्मतिकारने भावनिक्षेपका केवल पर्यायार्थिक नयमें भी अन्तर्भाव किया है। परंतु यहांपर उसका द्रव्यार्थिक नयमें अन्तर्भाव किया गया है । इसलिये यह कथन ती सन्मतिकारकेकथनसे विरुध्द प्रतीत होता है ।

समाधान-- ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, सन्मतितर्कमें, जो पर्यायरुप स्वलक्षण क्षणिक है इसे भावरुपसे स्वीकार किया गया है । अर्थात् सन्मतितर्कमें पर्यायकी विवक्षासे कथन किया है, और यहां पर द्रव्यसे अभिन्न वर्तमान पर्यायको द्रव्य मानकर कथन किया है । इसलिये कोई विरोध नहीं आता है ।

ऋजुसूत्र नयमें स्थापना निक्षेपको छोडकर शेष सभी निक्षेप संभव हैं, क्योंकि ऋजुसूत्र नयमें सादृश्य-सामान्यका ग्रहण नही होता है । और स्थापनानिक्षेप सादृश्य-सामान्यकी मुख्यतासे होता है ।

प्रमाण-नय-निक्षेपैर्योऽर्थं नाभिसमीक्षते ।

युक्तं चायुक्तवभाति तस्यायुक्तं च युत्कवत् १ ।। १० ।। (१ जो ण पमाण-णएहिं णिक्खेवेणं णिरिक्खदे अत्थं । तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं व पडिहाइ । ति. प. १.८२. अत्थं जो न समिक्खइ निक्खेव-णय-प्पमाणओ विहिणा। तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं व पडिहाइ । वि. भा. २७६४.)

ज्ञानं प्रमाणमित्याहुरुपायो न्यास उच्यते ।

नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थ-परिग्रहः२ (२ ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास उच्यते । नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थ-परिग्रहः।। लघीय ६,२. णाणं होदि पमाणं णओ वि णादुस्स हिदय-भाक्त्थो । णिक्खेओ वि उवाओ जुत्तीए अत्थपडिगहणं ।। ति. प. १,८३. वत्थू पमाणविसंय णयविसयं हवइ वत्थु-एयंसं । जं दोहि णिण्णयट्ठं तं णिक्खेवे हवे विसयं ।। णाणासहाव-भरियं वत्थु गहिऊण तं पमाणेण । एयंतणासणट्ठं पच्छा णय-जुंजणं कुणह ।। जम्हा णएण ण विणा होइ णरस्स सिय-वाय-पडिवत्ती । तम्हा सो णायव्वो एयंतं हंतुकामेण ।। न. च. १७२, १७३, १७५.) ।। ११ ।। इति ।

तत- कर्तव्यं नय निरुपणम् ।

शंका -- ऋजुसूत्र तो पर्यायार्थिक नय है, उसमें द्रव्यनिक्षेप कैसे घटित हो सकता है ?

समधान-- ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, ऋजुसूत्र नयमें वर्तमान समयवर्ती पर्यायसे अनन्तगुणान्वित एक द्रव्यही तो विषयरुपसे संभव है ।

विशेषार्थ ---- पर्याय द्रव्यको छोडकर स्वतन्त्र नहीं रहती है, और ऋजुसूत्रका विषय वर्तमान पर्यायविशिष्ट द्रव्य है । इसलिये ऋजुसूत्र नयमें द्रव्यनिक्षेप भी संभव है ।

इसी प्रकार ऋजुसूत्र नयमें नामनिक्षेपका भी अभाव नहीं है, क्योंकि, जिस समय शब्दका ग्रहण होता है, उसी समय उसकी निज वाचकता पाई जाती है ।

शब्द, समभिरुढ और एवंभूत नयमें भी नाम और भाव ये दो निक्षेप होते हैं, क्योंकि ये दो ही निक्षेप वहां पर संभव हैं, अन्य नहीं ।

विशेषार्थ-- शब्द, समभिरुढ और एवंभूत, ये तीनों ही नय शब्द-प्रधान हैं, और शब्द किसी न किसी संज्ञाके वाचक होते ही हैं। अत: उक्त तीनों नयोंमें नाम-निक्षेप बन जाता है । तथा उक्त तीनों नयवाचक शब्दोंके उच्चारण करते ही वर्तमानकालीन पर्यायको भी विषय करते हैं, अतएव उनमें भाव-निक्षेप भी बन जाता है ।

शंका-- यहां पर नयका निरुपण किसलिये किया गया हैं ?

समाधान-- जो पदार्थका प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा नैगमादि नयोंके द्वारा और नामादि निक्षेपोंके द्वारा सूक्ष्म-दृष्टिसे विचार नहीं करता है, उसे पदार्थका समीक्षण कभी युक्त (संगत)होते हुए भी अयुक्त (असंगत) सा प्रतीत होता है और कभी अयुक्त होते हुए भी युक्तकी तरह प्रतीत होता है ।। १० ।।

इदाणिं णिक्खेवत्थं भणिस्सामो । तत्थ णाम-मंगलं णाम णिमित्तंतर१ (१ नाम्नो वक्तुरभिप्रायो निमित्तं कथितं समम् । तस्मादन्यत्तु जात्यादि निमित्तान्तरमिष्यते ।। त. श्लो. वा. १.५.)-णिरवेक्खा मंगल-सण्णा । तत्थ णिमित्तं चउव्विहं, जाइ-दव्व-गुण-किरिया चेदि । तत्थ जाई तब्भवसारिच्छ-लक्खण-सामण्णं । दव्वं दुविहं संजोय-दव्वं समवाय-दव्वं चेदि । तत्थ संजोय-दव्वं णाम पुध पुध पसिद्धाणं दव्वाणं संजोगेण णिप्पण्णं । समवाय-दव्वं णाम जं दव्वं दव्वम्मि २ (२ मु. जं. दव्वम्मि।) समवेदं । गुणो णाम पज्जायादि-परोप्पर-विरुध्दो-अविरुध्दो वा। किरिया णाम परिप्फंदणरुवा । तत्थ जाइ-णिमित्तं णाम गो-मणुस्स-घड-पड-त्थंभवेत्तादि ३ । (३ जातिव्दारेण शब्दो हि यो द्रव्यादिषु वर्तते । जातिहेतु: स विज्ञेयो गौरश्व इति शब्दवत्

।। त. श्लो. वा. १, ५, ३.) संजोग-दव्व-णिमित्तं णाम दंडी छत्ती मउली ४ (४ मु. मोली।) इच्चेवमादि ५ । (५ संयोगि-द्रव्य-शब्दः स्यात्कुंडलीत्यादिशब्दवत् । समवायि-द्रव्य-शब्दो विषाणीत्यादिरास्थितः ।। त. श्लो. वा. १, ५, ९.) समवाय-दव्व-णिमित्तं६ (६ मु. समवायणिमित्तं) णाम गल-गंडो काणो कुंडो इच्चेवमाइ । गुण-णिमित्तं णाम किण्हो रुहिरा इच्चेवमाइ ७ (७ गुणप्राधान्यतो वृत्ते द्रव्ये गुणनिमित्तकः । शुक्लः पाटल इत्यादि-शब्दवत्संप्रतीयते ।। त. श्लो. वा. १, ५, ६.) किरिया-णिमित्तं णाम गायणो णच्चणो इच्चेवमाइ८ (८ कर्म-प्राधान्यतस्तत्र कर्महेतुर्निबुध्यते । चरति प्लवते यव्दत्कश्चिदित्यतिनिश्चितम् ।। त. श्लो. व. १, ५, ७.) ण च एदे चत्तारि णिमित्ते मोत्तूण णाम-पउत्तीए अण्णं ९ (९ मु. अण्ण-) णिमित्तंतरमत्थि ।

विव्दान् लोग सम्यग्ज्ञानको प्रमाण कहते हैं, नामादिकके द्वारा वस्तुमें भेद करनेके उपायको न्यास या निक्षेप कहते हैं, और ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहते हैं । इसप्रकार युक्तिसे अर्थात् प्रमाण, नय, और निक्षेपकेद्वारा पदार्थका ग्रहण अथवा निर्णय करना चाहिये ।। ११ ।।

अतएव नयका निरुपण करना आवश्यक है ।

अब आगे नामादि निक्षेपोंका कथन करते हैं । उनमेंसे, अन्य निमित्तोंकी अपेक्षा रहित किसीकी 'मंगल' ऐसी संज्ञा करनेको नाममंगल कहते हैं । वहाँ निमित्त चार प्रकारका है - जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया । उन चार निमित्तोंमेंसे तद्भव और सादृश्य-लक्षणवाले सामान्यको जाति कहते है ।

वच्चत्थ१-(१ अ-ब-बज्झत्थ । 'नाम' पि होज्ज सन्ना तव्वच्चं वा तयत्थपरिसुन्नं ।। वि. भा. ३४००) णिरवेक्खो मंगल-सद्दो णाम-मंगलं । तस्स मंगलस्स आधारो अट्ठविहो । तं जहा, जीवो वा, जीवा वा, अजीवो वा, अजीवा वा, जीवो २ (२ अ- अजीवो च जीवा च, अजीवा च जीवो च, अजीवा च जीवा चेति ।) य अजीवो य,

---

विशेषार्थ - किसी एक द्रव्यकी त्रिकालगोचर अनेक पर्यायोंमें रहनेवाले अन्वयको तद्भवसामान्य या ऊर्ध्वतासामान्य कहते हैं । जैसे मनुष्यकी बालक, युवा और वृध्द अवस्थामें मनुष्यत्व-सामान्यका अन्वय पाया जाता है । तथा एक ही समयमें नाना व्यक्तिगत सदृश परिणामको सादृश्यसामान्य या तिर्यक्सामान्य कहते हैं । जैसे, रंग, आकार आदिसे भिन्न भिन्न प्रकारकी गायोंमें गोत्व-सामान्यका अन्वय पाया जाता है ।

द्रव्यके दो भेद हैं, संयोग-द्रव्य, और समवाय-द्रव्य । उनमें, अलग अलग सत्ता रखनेवाले द्रव्योंके मेलसे जो पैदा हो उसे संयोग - द्रव्य कहते हैं । जो द्रव्य द्रव्यमें समवेत हो अर्थात् कथंचित् तादात्म्य रखता हो उसे समवाय-द्रव्य कहते हैं । जो पर्याय आदिककी अपेक्षा परस्पर विरुध्द हो अथवा अविरुध्द हो उसे गुण कहते हैं । परिस्पंद अर्थात् हलन-चलनरुप अवस्थाको क्रिया कहते हैं ।

उन चार प्रकारके निमित्तोंमेंसे, गौ, मनुष्य, घट, पट, स्तंभ, वेत इत्यादि जातिनिमित्तक नाम हैं, क्योंकि, गौ-मनुष्यादि संज्ञाएं गौ - मनुष्यादि जातिमें उत्पन्न होनेसे प्रचलित हैं । दण्डी, छत्री, मौली इत्यादि संयोग-द्रव्य-निमित्तक नाम हैं । क्योंकि, दंडा, छतरी, मुकुट इत्यादि स्वतंत्र-सत्तावाले पदार्थ हैं, और उनके संयोगसे दंडी छत्री, मौली इत्यादि नाम व्यवहारमें आते हैं । गलगण्ड, काना, कुबडा इत्यादि समवाय-द्रव्यनिमित्तक नाम हैं, क्योंकि, जिसके लिये 'गलगण्ड' इस नामका उपयोग किया गया है उससे गलेका गण्ड भिन्नसत्तावाला नहीं है । इसी प्रकार काना, कुंबडा आदि नाम समझ लेना चाहिये । कृष्ण,रुधिर इत्यादि गुण-निमित्तक नाम हैं, क्योंकि, कृष्ण आदि गुणोंके निमित्तसे उन गुणवाले द्रव्योंमें ये नाम व्यवहारमें आते हैं । गायक, नर्तक इत्यादि क्रिया-निमित्तक नाम हैं । क्योंकि, गाना, नाचना आदि क्रियाओंके निमित्तसे गायक, नर्तक आदि नाम व्यवहारमें आते हैं । इसतरह जाति आदि उन चार निमित्तोंको छोडकर संज्ञाकी प्रवृत्तिमें अन्य कोई निमित्त नहीं है ।

वाच्यार्थ अर्थात् शब्दार्थकी अपेक्षा रहित 'मंगल' शब्द नाममंगल है । उस मंगलका आधार आठ प्रकारका है । जैसे, १ एक जीव, २ अनेक जीव, ३ एक अजीव, ४ अनेक अजीव, ५ एक जीव और एक अजीव, ६ अनेक जीव और एक अजीव, ७ एक जीव और अनेक अजीव, ८ अनेक जीव और अनेक अजीव ।

विशेषार्थ - मंगलके लिये आधार या आश्रय आठ प्रकारका होता है, जिसका खुलासा इसप्रकार समझना चाहिये - १ साक्षात् एक जिनेन्द्रदेवके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है। जीवा य अजीवो य, जीवो य अजीवा य, जीवा य अजीवा य इदि१ ('किञ्चिध्दि प्रतीतमेकजीवनाम, यथा डित्थ इति । किञ्चिदनेकजीवनाम यथा यूथ इति। किञ्चिदेकाजीवनाम, यथा घट इति । किञ्चिदनेकाजीवनाम, यथा प्रासाद इति । किञ्चिदेकजीवैकाजीवनाम, यथा प्रतीहार इति। किञ्चिदेकजीवानेकाजीवनाम, यथा काहार इति। किञ्चिदेकाजीवानेके जीवनाम, यथा मंदुरेति । किञ्चिदनेकजीवाजीवनाम, यथा नगरमिति'। त. श्लो. वा. १, ५. जीवस्स सो जिणस्स व अज्जीवस्स उ जिणिंदपडिमाए । जीवाण जईणं पि व अज्जीवाणं तु

पडिमाणं ।। जीवस्साजीवस्स व जइणो बिंबस्स चेगओ समयं । जीवस्साजीवण य जइणो पडिमाण चेगत्थं ।। जीवाणमजीवस्स य जईण बिंबस्स चेगओ समयं । जीवाणमजीवाण य जइणो पडिमाण चेगत्थं ।। वि. भा. ३४२४, ३४२५, ३४२६.) ।

तत्थ ड्ढवण-मंगलं णाम आहिद-णामस्स अण्णस्स सोयमिदि ड्ढवणं ड्ढवणा णाम । सा दुविहा सब्भावासब्भाव-ट्ठवणा चेदि । तत्थ आगारवंतए वत्थुम्मि सब्भावड्ढवणा । तव्विवरीया असब्भाव-ड्ढवणा।

उसे एकजीवाश्रित मंगल कहते हैं । यहां जिनेन्द्रदेवके स्थानपर एक जिन-यति भी लिया जा सकता है । २ अनेक यतियोंके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीवाश्रित मंगल कहते हैं । ३ एक जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है उसे एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं । ४ अनेक जिन-प्रतिमाओंके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है उसे अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं । ५ एक जिनेन्द्रदेव और एक ही उनकी प्रतिमाके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे एक जीव और एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं । ६ अनेक यति और एक जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीव और एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं । ७ एक जिनेन्द्रदेव और अनेक जिनप्रतिमाओंके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे एक जीव और अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं । ८ अनेक यति और अनेक जिनप्रतिमाओंके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीव और अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं ।

उन नामादि मंगलोंमेंसे अब स्थापनामंगलको बतलाते हैं । किसी नामको धारण करनेवाले दूसरे पदार्थकी 'वह यह है' इसप्रकार स्थापना करनेको स्थापना कहते हैं । वह स्थापना दो प्रकारकी है, सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापना । इन दोनोंमेंसे, जिस वस्तुकी स्थापना की जाती है उसके आकारको धारण करनेवाली वस्तुमें सद्भावस्थापना समझना चाहिये तथा जिस वस्तुकी स्थापना की जाती है उसके आकारसे रहित वस्तुमें असद्भाव स्थापना जानना चाहिये ।

लेखनीसे लिखकर अर्थात् चित्र बनाकर, और खनन अर्थात् छैनी, टांकी आदिके व्दारा, बन्धन अर्थात् चिनाई, लेप आदिके व्दारा तथा क्षेपण अर्थात् सांचे आदिमें ढलाई आदिके व्दारा मुर्ति बनाकर स्थापित किये गये, और जिसमें बुध्दिसे अनेक प्रकारके मंगलरुप अर्थके सूचक गुणसमूहोंकी कल्पना की गई है ऐसे मंगल-पर्यायसे परिणत जीवके रुपको अर्थात् तदाकार आकृतिको सद्भावस्थापना-मंगल कहते हैं ।

मंगल-पज्जय-परिणद-जीव-रुवं लिहणं-खणण-बंधण-क्खेवणादिएण ठविदं बुध्दीए आरोविद-गुण-समूहं सब्भाव-ट्ठवणा-मंगलं१ । (१ तत्राध्यारोप्यमानेन भावेन्द्रादिना समाना प्रतिमा तद्भावस्थापना, मुख्यदर्शिन: स्वयं तस्यास्तद्बुध्दिसंभवात् कथंचित्सादृश्यसद्भावत् । त. श्लो. वा. १, ५.) बुध्दीए समारोविद-मंगल-पज्जय-परिणद-जीव-गुण-सरुवक्ख-वराडयादयो असब्भाव-ट्ठणा-मंगल२ (२ मुख्याकारशून्या वस्तुमात्रा पुनरसद्भावस्थापना परोपदेशादेव तत्र सोऽयमिति संप्रत्ययात् । त. श्लो. वा. १, ५.)

दव्व-मंगलं णाम अणागय-पज्जाय-विसेसं पडुच्च गहियाहिमुहियं दव्वं अतब्भावं वा । तं दुविहं, आगम-णो-आगम-दव्वं चेदि । आगमो सिध्दंतो पवयणमिदि

नमस्कारादि करते हुए जीवके आकारसे रहित अक्ष अर्थात् शतरंजकी गोटोंमें वराडक अर्थात् कौडियोंमें तथा इसीप्रकारकी अन्य अतदाकार वस्तुओंमें मंगल-पर्यायसे परिणत जीवके गुण स्वरुपकी बुध्दिसे कल्पना करना असद्भाव स्थापना-मंगल है ।

विशेषार्थ ---- जैसे शतरंज आदिके खेलमें राजा, मन्त्री आदिकी और खेलनेकी कौडी व पासोमें संख्याकी आरोपणा होती है, उसीप्रकार मंगलपर्यायपरिणत जीव और उसके गुणोंकी बुध्दिके व्दारा की हुई स्थापनाको असद्भावस्थापनामंगल कहते हैं ।

अब द्रव्यमंगलका कथन करते हैं । आगे होनेवाली मंगल पर्यायको ग्रहण करनेके सन्मुख हुए द्रव्यको (उस पर्यायकी अपेक्षा) द्रव्यमंगल कहते हैं । अथवा, वर्तमान पर्यायकी विवक्षासे रहित द्रव्यको ही द्रव्यमंगल कहते हैं । वह द्रव्यमंगल आगम और नो-आगमकेभेदसे दो प्रकारका है ।

आगम, सिध्दान्त और प्रवचन, ये शब्द एकार्थवाची हैं । आगमसे भिन्न पदार्थको नोआगम कहते हैं ।

मंगल-प्राभृत अर्थात् मंगल विषयका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रको जाननेवाले, किंतु वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित जीवको आगम-द्रव्यमंगल कहते हैं । अथवा, मंगल विषयके प्रतिपादक शास्त्रकी शब्द रचनाको आगम-द्रव्यमंगल कहते हैं अथवा, मंगल विषयको प्रतिपादन करनेवाले उस मंगल प्राभृत शास्त्रकेअर्थकी स्थापनारुप अक्षरोंकी रचनाको आगमद्रव्यमंगल कहते हैं ।

विशेषार्थ -- आगे होनेवाली पर्यायके सन्मुख, अथवा वर्तमान पर्यायकी विवक्षासे रहित, अर्थात् भूत या भविष्यत् पर्यायकी विवक्षासे द्रव्यको द्रव्यमंगल कहा है, और तव्दिषयक ज्ञानको आगम कहा है । इससे यह तात्पर्य निकलता है कि जो मंगलविषयक शास्त्रका जानकर वर्तमान उसके उपयोगसे रहित हो वह

आगमद्रव्यमंगल है। यहापंर जो मंगलविषयक एयटठो । आगमादो अण्णो णो-आगमो । तत्थ १ (१ आगमओऽणुवउत्तो मंगल-सद्दाणुवासिओ वत्ता । तन्नाण-लध्दि-चेहिओ वि नोवउत्तो त्ति तो दव्वं।। जद नाणमागमो तो कह दव्वं दव्वमागमो कह णु । आगम-कारणमाया देहो सद्दो यतो दव्वं ।। मंगल-पयत्थ जाणय-देहो भवस्स वा सजीवो वि । नो-आगमओ दव्वं आगम-रहिओ त्ति जं भणिअं ।। अहवा नो देसम्मि नो आगमओ तदेग-देसाओ । भूंयस्स भाविणो वाऽऽगमस्स जं कारणं देहो ।। जाणय-भव्य-सरीराइरित्तमिह दव्व-मंगलं होइ । जा मंगल्ला किरिया तं कुणमाणो अणुवउत्तो ।। वि. भा. २९, ३०, ४४, ४५, ४६.) आगमदो दव्व-मंगलं णाम, मंगल-पाहुड-जाणओ अणुवजुत्तो, मंगल-पाहुड-सद्द-रयणा-वा, तस्सत्थ२ (२ अ - तस्सद्द)-ट्ठवणक्खर-रयणा वा । णो-आगमदो दव्व मंगलं तिविहं । जाणुग-सरीरं भवियं तव्वदिरित्तमिदि । जं तं जाणुग-सरीर३-(३ मु. सरीरं ।) णो-आगम-दव्व-मंगलं तं तिविहं, मंगल.पाहुडस्स-केवल-णाणादि-मंगल-पज्जायस्स वा आधारत्तणेण भविय-वट्टमाणादीद-सरीरमिदि । आहारस्साहेयोवयारादो भवदु धरिद-मंगल-पज्जाय-परिणद-जीवसरीरस्स मंगल-ववएसो, ण

शास्त्रकी शब्दरचना अथवा मंगलशास्त्रके अर्थकी स्थापनारुप अक्षरोंकी रचनाको आगमद्रव्यमंगल कहा है वह उपचारसे ही समझना चाहिये । क्योंकि, मंगलविषयक शास्त्र-ज्ञानमें मंगल-विषयक शास्त्रकी शब्द रचना और मंगलशास्त्रके अर्थकी स्थापनारुप अक्षरोंकी रचना ये मुख्यरुपसे बाह्य निमित्त पडते हैं। वैसे तो सहकारी कारण शरीरादिक और भी होते हैं, परंतु वे मुख्य बाह्य निमित्त न होनेसे उनका ग्रहण नो-आगममें किया है । अथवा, मंगलविषयक शास्त्रज्ञानसे और दुसरे बाह्य निमित्तोकीं अपेक्षा इन दोनो बाह्य निमित्तोंकी विशेषता दिखानेके प्रयोजनसे इन दोनों बाह्य निमित्तोंका आगमद्रव्यमंगलमे ग्रहण कर लिया है।

नो-आगमद्रव्यमंगल तीन प्रकारका है, ज्ञायकशरीर, भव्य या भावि और तव्दयतिरिक्त । उनमें जो ज्ञायकशरीर नो-आगमद्रव्यमंगल है वह भी तीन प्रकारका समझना चाहिये । मंगल-विषयक शास्त्रका अथवा केवलज्ञानादिरुप मंगल-पर्यायका आधार होनेसे भाविशरीर, वर्तमानशरीर और अतीतशरीर, इसप्रकार ज्ञायकशरीर नो-आगमद्रव्यमंगलके तीन भेद हो जाते हैं ।

शंका - आधारभूत शरीरमें आधेयभूत आत्माका-उपचार करके धारण की हुई मंगल पर्यायसे परिणत जीवके शरीरको नो-आगमज्ञायकशरीरद्रव्यमंगल कहना तो उचित भी है, परंतु भावी और भूत शरीर को मंगल संज्ञा देना किसी प्रकार भी उचित नहीं है, क्योंकि, उनमें मंगलरुप पर्यायके अस्तित्वका अभाव है ?

समाधान - ऐसा नहीं है, क्योंकि राज-पर्यायका आधार होनेसे अनागत और अतीत जीवमें भी जिसप्रकार राजारुप व्यवहारकी उपलब्धि होती है, उसीप्रकार मंगल पर्यायसे परिणत जीवका आधार होनेसे अतीत और अनागत शरीरमें भी मंगलरुप व्यवहार हो सकता है ।

अण्णेसिं, तेसु ट्ठिद-मंगल-पज्जायाभावा ? ण, राय-पज्जायाहारत्तणेण अणागदादीदजीवे वि राय-ववहारोवलंभा ।

तत्थ अदीद-सरीरं तिविहं, चुदं चइदं चत्तमिदि । तत्थ चुदं णाम कयली-घादेण विणा पक्कं पि फलं व कम्मोदएण ज्झीयमाणायु-क्खय-पदिदं । चइदं णाम कयलीघादेण छिण्णायु-क्खय-पदिद-सरीरं । उत्तं च -

---

विशेषार्थ ---- आगमके बाह्य सहकारी कारण होनेसे शरीरको नो-आगम कहा गया है । और उसमें अन्वय प्रत्ययकी उपलब्धि होनेसे उसे द्रव्य कहा गया है । ये दोनों बातें अतीत, वर्तमान और अनागत इन तीनों शरीरोंमें घटित होती हैं, इसलिये इनमें मंगलपनेका व्यवहार हो सकता है । इसका खुलासा इसप्रकार है ---

औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीर मंगलविषयक शास्त्रके परिज्ञानमें बाह्य सहकारी कारण हैं, क्योंकि, इनके विना कोई शास्त्रका अभ्यास ही नहीं कर सकता है । अब इनमें अन्वय-प्रत्यय कैसे पाया जाता है इसका खुलासा करते हैं । जिस शरीरसे मैंने मंगल शास्त्रका अभ्यास किया था वही शरीर उक्त अभ्यासको पूरा करते समय भी विद्यमान है, इस प्रकार तो वर्तमान ज्ञायक शरीरमें अन्वयप्रत्यय पाया जाता है । मंगल शास्त्रज्ञानसे उपयुक्त मेरा जो शरीर था, तव्दिषयक शास्त्रज्ञानसे रहित मेरे अब भी वही शरीर विद्यमान है, इसप्रकार अतीत ज्ञायक शरीरमें अन्वयप्रत्ययकी उपलब्धि होती है । मंगल शास्त्रज्ञानके उपयोगसे रहित मेरा जो शरीर है वही तव्दिषयक तत्त्वज्ञानकी उपयोग-दशामें भी होगा, इसप्रकार अनागत ज्ञायकशरीरमें अन्वयप्रत्ययकी उपलब्धि बन जाती है। इसलिये वर्तमान शरीरकी तरह अतीत और अनागत शरीरमें भी मंगलरुप व्यवहार हों सकता है ।

इनमेंसे अतीत शरीरके तीन भेद हैं, च्युत, च्यावित और त्यक्त ।

कदलीघात- मरणके विना पके हुए फलके समान कर्मके उदयसे झडनेवाले आयुकर्मके क्षयसे अपने आप पतित शरीरको च्युतशरीर कहते हैं ।

विशेषार्थ ---- जैसा पका हुआ फल अपना समय पूरा हो जानेके कारण वृक्षमेंसे स्वयं गिर पडता है । वृक्षसे अलग होनेके लिये उसे और दूसरे बाह्य निमित्तोंकी अपेक्षा नहीं पडती है । उसीप्रकार आयु कर्मके पूरे हो जाने पर जो शरीर शस्त्रादिकके विना छूट जाता है, उसे च्युत शरीर कहते है ।

कदलीघातके व्दारा छिन्न आयुके क्षय हो जानेसे छूटे हुए शरीरको च्यावितशरीर कहते हैं । कहा भी है ---

विस१ (१ गो. क. ५७.)-वेयण-रत्तक्खय-भय-सत्थग्गहण-संकिलेसेहि २ (२ मु. संकिलिस्सेहि ।) ।

आहारुस्सासाणं ३ (३ मु. आहारो ।) णिरोहदो छिज्जदे आऊ ।। १२ ।। इदि ।।

चत्तसरीरं तिविहं, पायोवगमण-विहाणेण, इंगिणी-विहाणेण, भत्त-पच्चक्खाण-विहाणेण, चत्तमिदि। तत्रात्मपरोपकारनिरपेक्षं प्रायोपगमनम्४ । (४ पायोवगमणमरणं, पादाभ्यामुपगमनं ढौकनं तेन प्रवर्तितं मरणं पादोपगमनमरणम् । अथवा 'पाउग्ग-गमणमरणं' इति पाठः, भवान्तकरणं प्रायोग्यं संहननं संस्थानं चेह प्रायोग्यशब्देनोच्यते । अस्य गमनं प्राप्तिः, तेन कारणभूतेन यन्निवर्त्य मरणं तदुच्यते पाउग्गगमणमरणमिति । मूलारा. पृ. ११३. 'पाओवगमणं' पादपस्येवोपगमनमस्पन्दतयाऽवस्थानं पादपोपगमनम् । तदुक्तं-पाओवगमणं भणियं सम-विसमे पायवो जहा पडितो । नवरं परप्पओगा कंप्पेज्ज जहा जलतरु व्व ।। ५४४ अभिरा. कोष (पाओवगमण)) आत्मोपकारसव्यपेक्षं

विषके खा लेनेसे, वेदनासे, रक्तका क्षय हो जानेसे, तीव्र भयसे, शस्त्राघातसे, संक्लेशकी अधिकतासे तथा आहार और श्वासोच्छ्वासके रुक जानेसे आयु क्षीण हो जाती है ।।१२।।

विशेषार्थ --- जैसे कदली (केला) के वृक्षका तलवार आदिके प्रहारसे एकदम विनाश हो जाता है, उसीप्रकार विष-भक्षणादी निमित्तोंसे भी जीवकी आयु एकदम उदीर्ण होकर छिन्न हो जाती है । इसे ही अकाल मरण कहते हैं, और इसके द्वारा जो शरीर छूटता है उसे च्यावित शरीर कहते हैं।

त्यक्तशरीर तीन प्रकारका है, प्रायोपगमन विधानसे छोडा गया, इंगिनी विधानसे छोडा गया और भक्तप्रत्याख्यान विधानसे छोडा गया । इसतरह त्यक्त शरीरके तीन भेद हो जाते हैं ।

अपने और परके उपकारकी अपेक्षा रहित समाधिमरणको प्रायोपगमण कहते हैं ।

विशेषार्थ--- प्रायोपगमण समाधिमरणको धारण करनेवाला साधु संस्तरका ग्रहण करना, बाधाके निवारणके लिये हाथ पांवका हिलाना, एक क्षेत्रको छोडकर दूसरे क्षेत्रमें जाना आदि क्रियाएं न तो स्वयं करता है और न दूसरेसे कराता है । जैसे काष्ठ सर्वथा निश्चल रहता है, उसीप्रकार वह साधु समाधिमें

सर्वथा निश्चल रहता है। शास्त्रोंमें प्रायोपगमनके अनेक प्रकारके अर्थ मिलते हैं । जैसे, संघको छोडकर अपने पैरोंद्वारा किसी योग्य देशका आश्रय करके जो समाधिमरण किया जाता है उसे पादोपगमन समाधिमरण कहते हैं । अथवा प्राय अर्थात् संन्यासकी तरह उपवासके द्वारा जो समाधिमरण होता है उसे प्रायोपगमण समाधिमरण कहते हैं । अथवा, पादप अर्थात् वृक्षकी तरह निष्पन्दरूपसे रहकर, शरीरसे किसी भी प्रकारकी क्रिया न करते हुए जो समाधिकरण होता है उसे पादपोपगमन समाधिकरण कहते हैं। इन सब अर्थोंका मुख्य अभिप्राय यही है कि इस विधानमें अपने व परके उपकार की अपेक्षा नहीं रहती है ।

परोपकारनिरपेक्षं इंगिनीमरणम् १ (१ इंगिणीशब्देन, इंगितमात्मनोऽभिप्रायो भण्यते, स्वाभिप्रायेण स्थित्वा प्रवर्त्यमानं मरणं इंगिणीमरणम् । यत्पुन: स्ववैयावृत्तिसापेक्षमेव । मूलारा. पृ. १२४. अत्र नियमाच्चतुर्विधाहारविहति:, परपरिकर्मविवर्जनञ्च भवति । स्वयं पुनरिङ्गितदेशाभ्यन्तरे उव्दर्त्तनादि चेष्टात्मकं परिकर्म यथासमाधि विदधाति । अभि. रा. कोष. (इंगिणी)) । आत्मपरोपकारसव्यपेक्षं भक्तप्रत्याख्यानमिति २ (भज्यते देहस्थित्यर्थमिति भक्तमाहार: । तस्य प्रतिज्ञा प्रत्याख्यानं त्याग: । भक्तप्रतिज्ञा स्वपरवैयावृत्त्यसापेक्षं मरणम् । मूलारा. पृ. ११३.) तत्र भक्तप्रत्याख्यानं त्रिविधं जघन्योत्कृष्टमध्यमभेदात् । जघन्यमन्तर्मुहूर्तप्रमाणम्३ । (३ उक्कस्सएण भत्त-पइण्णा कालो जिणेहि णिद्दिट्ठो । कालं हि संपहुत्ते वारिस वरिसाणि पुण्णाणि ।। जोगेहिं विचित्तेहिं दु खवेदि संवच्छराणि चत्तारि । वियडिणी य जूहित्ता चत्तारि पुणो वि सोसेइ ।। आयंविलणिव्वियडीहिं दोण्णि आयंविलेण एक्कं च । अध्दं णादि बिगड्डेहिं तदो अध्दं विगड्डेहि ।। मूलारा. २५७-२५९.) । उत्कृष्टभक्तप्रत्याख्यानं द्वादशवर्षप्रमाणम् ४ । मध्यममेतयोरन्तरालमिति ।

जिस संन्यासमें, अपने द्वारा किये गये उपकारकी अपेक्षा रहती है, किन्तु दूसरेके द्वारा किये गये वैयावृत्त्य आदि उपकारकी अपेक्षा सर्वथा नहीं रहती, उसे इंगिनीसमाधि कहते हैं ।

विशेषार्थ --- इंगिनी शब्दका अर्थ इंगित (अभिप्राय) है । इससे यह तात्पर्य निकलता है कि इस समाधिमरणको करनेवाला स्वत: किये हुये उपकारकी अपेक्षा रखता है । इस समाधिमरणमें साधु संघसे निकलकर किसी योग्य देशमें समभूमि अथवा शिलापट्ट देखकर उसके ऊपर स्वयं तृणका संस्तर तैयार करके समाधिकी प्रतिज्ञा करता है । इसमें उठना, बैठना, सोना, हाथ-पैरका पसारना, मल-मूत्रका विसर्जन करना आदि क्रियाएं क्षपक स्वयं करता है । किसी दूसरे साधुकी सहायता नहीं लेता है। इस तरह

यावज्जीवन चार प्रकारके आहारके त्यागके साथ, स्वयं किये गये उपचार सहित समाधिमरणको इंगिनी-संन्यास कहते हैं ।

जिस संन्यासमें अपने और दूसरेके द्वारा किये गये उपकारकी अपेक्षा रहती है उसे भक्तप्रत्याख्यानसंन्यास कहते हैं ।

विशेषार्थ --- भक्त नाम भोजनका है, और प्रत्याख्यान त्यागको कहते हैं । इसका यह अभिप्राय है कि जिस संन्यासमें क्रम-क्रमसे आहारादिका त्याग करते हुए अपने और पराये उपकारकी अपेक्षा रखकर समाधिमरण किया जाता है, उसे भक्त-प्रत्याख्यान संन्यास कहते हैं ।

इन तीनों प्रकारके समाधिमरणोंमेंसे भक्त-प्रत्याख्यानविधि जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारकी है । जघन्य भक्तप्रत्याख्यान विधिका प्रमाण अन्तर्मुहूर्तमात्र है, उत्कृष्ट भक्तप्रत्याख्यान विधिका प्रमाण बारह वर्ष है और मध्यम भक्तप्रत्याख्यान विधिका प्रमाण, जघन्य अन्तर्मुहूर्तसे लेकर बारह वर्षके भीतर है ।

संजम-विणास-भएण उस्सास-णिरोहं १ (१ तो णाउ वित्तिच्छेयं ऊसासनिरोहमादिणि कयाइं । अणहीयासे तेहिं वेयणसाहूहि ओमम्मि ।। पडिघातो वा विज्जू गिरिभित्ती कोणयाइ वा हुज्जा। संबध्दहत्थपायादओ व्व वातेण होज्जाहि ।। एएहिं कारणेहिं पंडियमरण तु काउमसमत्थो । ऊसासगिध्दपट्ठं रज्जुग्गहणं च कुज्जाहि ।। व्यव. सू. ५४६-५४८.) काऊण मुद-साहु-सरीरं कत्थ णिवददि ? ण कत्थ वि, तहा-मुद-देहस्स मंगलत्ताभावादो। मंगल-पाहुड-धारयस्स धरिद-महव्व-यस्स चत्त-देहस्स अचत्त-देहस्स वा देहो कधममंगलं ? साहूणमजुत्तकारिस्स देहत्तादो अमंगलमिदि ण वोत्तु, जुत्तं, पुव्वं ति-रयणाहारत्तेण मंगलत्तमवगयस्स पच्छा भूदपूव्व-णाएण मंगल-भावं पडि विरोहाभावादो । तदो मंगल-भावेण कत्थ वि णिवदेयव्वमेदेण सरीरेणेति । ण चइदम्हि पददि, चत्तस्स वि आहार-णिरोहेण पदिदस्स चइदत्तावत्तीदो । तो क्खहिं एदं घेत्तव्वं ? कयली-घादेण मरण-कंखाए जीवियासाए जीविय-मरणासाहि विणा वा पदिद-सरीरं चइदं । जीवियासाए मरणासाए जीविय-मरणासाहि विणा वा कयलीघादेण अचत्त-भावेण पदिद-सरीरं चुदं णाम ।

शंका ---- संयमके विनाशके भयसे श्वासोच्छ्वासका निरोध करके मरे हुए साधुके शरीरका त्यक्तके तीन भेदोंमेंसे किस भेदमें अन्तर्भाव होता है ?

समाधान ---- ऐसे शरीरका त्यक्तके किसी भी भेदमें अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि इस प्रकारसे मृत शरीरको मंगलपना प्राप्त नहीं हो सकता ।

शंका ---- जो मंगल शास्त्रका धारक है अर्थात् ज्ञाता है, जिसने महाव्रतको धारण किया है, चाहे उस साधुने समाधिसे शरीर छोडा हो अथवा नहीं छोडा हो, परंतु उसके शरीरको अमंगलपना कैसे प्राप्त हो सकता है ? यदि कहा जावे कि साधुओंमें अयोग्य कार्य करनेवाले साधुका शरीर होनेसे वह अमंगल है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, जो शरीर पहले रत्नत्रयका आधार होनेसे मंगलपनेको प्राप्त हो चुका है, उसमें पीछेसे भूतपूर्व न्यायकी अपेक्षा मंगलत्वके स्वीकार कर लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है । इसलिये मंगलपनेकी अपेक्षा संयमके विनाशके भयसे श्वासोच्छ्वासके निरोधसे छोडे हुए साधुके शरीरका त्यक्तके तीन भेदोंमेंसे किसी एक भेदमें समावेश होना चाहिये। इस शरीरका च्यावितमें तो अन्तर्भाव हो नहीं सकता है, क्योंकि, यदि इसका च्यावितमें अन्तर्भाव किया जावे, तो आहारके निराधसे छूटे हुए त्यक्त शरीरका भी च्यावितमें ही अन्तर्भाव करना पडेगा ? तो ऐसे शरीरको किस भेदमें ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान ----- मरणकी आशासे या जीवनकी आशासे अथवा जीवन और मरण इन दोनोंकी आशाके विना ही कदलीघातसे छूटे हुए शरीरको च्यावित कहते हैं। जीवनकी आशासे, मरणकी आशासे अथवा जीवन और मरण इन दोनोंकी आशाके विना ही कदली-घात व जीविद-मरणासाहि विणा सरुवोवलध्दिणिमित्तं चत्त१ (१ मु. णिमित्तं व चत्त -।) -बज्झंतरंग-परिग्गहस्स कयलीघादेणियरेण वा पदिद-सरीरं चत्तदेहमिदि।

भव्यनोआगमद्रव्यं भविष्यत्काले मङ्गलप्राभृतज्ञायको जीव: मङ्गलपर्यायं परिणंस्यतीति वा। तद्व्यतिरिक्तं व्दिविधं कर्मनोकर्ममङ्गलभेदात् । तत्र कर्ममङ्गलं दर्शन-विशुध्दयादि-षोडशधा-प्रविभक्त-तीर्थंकर-नामकर्म-कारणैर्जीव-प्रदेश-निबध्द-तीर्थंकर-नामकर्म-माङ्गल्य-निबन्धनत्वान्मङ्गलम्

यत्तन्नोकर्ममङ्गलं। तद् व्दिविधम्, लौकिकं लोकोत्तरमिति । तत्र लौकिकं त्रिविधम्, सचित्तमचित्तं मिश्रमिति ।

समाधिमरणसे रहित होकर छूटे हुए शरीरको च्युत कहते हैं । आत्म-स्वरुपकी प्राप्तिको निमित्त, जिसने बहिरंग और अंतरंग परिग्रहका त्याग कर दिया है ऐसे साधुके जीवन और मरणकी आशाके विना ही कदलीघातसे अथवा इतर कारणोंसे छूटे हुए शरीरको त्यक्तशरीर कहते हैं ।

विशेषार्थ ----- पूर्वमें बतलाये गये च्युत, च्यावित और त्यक्तके स्वरुपपर ध्यान देनेसे यह भली प्रकार विदित हो जाता है कि संयम-विनाशके भयसे श्वासोच्छ्वासका निरोध करके छूटे हुए साधुके शरीरका च्यावितमें ही अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, च्यावित मरणमें कदलीघातकी प्रधानता है । और श्वासोच्छ्वासका

स्वयं निरोध करके मरना कदलीघातमरण है । उसमें समाधिका सद्भाव नहीं रह सकता है, इसलिये ऐसे मरणका त्यक्तके किसी भी भेदमें ग्रहण नहीं किया जा सकता है । यद्यपि किसी त्यक्तमरणमें कदलीघात भी निमित्त पडता है । परंतु वहांपर कदलीघातसे, परकृत उपसर्गादि निमित्तोंका ही ग्रहण किया गया है, स्वकृत श्वासोच्छ्वासनिरोध आदि आत्मघातके साधन विवक्षित नहीं हैं ।

जो जीव भविष्यकालमें मंगल-शास्त्रका जाननेवाला होगा, अथवा मंगलपर्यायसे परिणत होगा उसे भव्यनोआगमद्रव्यमंगलनिक्षेप कहते हैं ।

विशेषार्थ ----- ज्ञायकशरीरके तीन भेद किये हैं । उसका एक भेद भावी भी है । परंतु उससे इस भावीको भिन्न समझना चाहिये, क्योंकि, ज्ञायकशरीरके भावी विकल्पमें ज्ञाताके आगे होनेवाले शरीरको ग्रहण किया है, और यहांपर भविष्यमें होनेवाला तद्विषयक शास्त्रका ज्ञाता ग्रहण किया है ।

कर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगल और नोकर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगलके भेदसे तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यमंगल दो प्रकारका है । उनमें दर्शनविशुध्दि आदि सोलह प्रकारके तीर्थंकर नामकर्मके कारणोंसे जीवके प्रदेशोंसे बंधे हुए तीर्थंकर नामकर्मको कर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगम-द्रव्यमंगल कहते हैं, क्योंकि, वह मंगलपनेका सहकारी कारण है ।

नोकर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यमंगल दो प्रकारका है । एक लौकिक नोकर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यमंगल और दूसरा लोकोत्तर नोकर्मतद्व्यतिरिक्त-नोआगमद्रव्यमंगल ।

तत्राचित्तमङ्गलम् -----

सिध्दत्थ-पुण्ण-कुंभो वंदणमाला य मंगलं छत्तं ।

सेदो वण्णो आदंसणो । कण्णा य जच्चस्सो १ (१ वयणियमसंजमगुणेहि साहिदो जिणवरेहि परमट्ठो । सिध्दा सण्णा जेसिं सिध्दत्था मंगलं तेण ।। पुण्णा मणोरहेहि य केवलणाणेण चावि संपुण्णा । अरहंता इदि लोए सुमंगलं पुण्णकुंभो दु ।। निग्गमणपवेसम्हि य इह चउवीसं पि वंदणिज्जा ते । वंदनमाले त्ति कया भरहेण य मंगलं तेण ।। सव्वजणणिव्वुदियरा छत्तायारा जगस्स अरहंता । छत्तायारं सिध्दी त्ति मंगलं तेण छत्तं तं ।। सेदो वण्णो ज्झाणं लेस्सा य अघाइसेसकम्मं च । अरुहाणं इदि लोए सुमंगलं सेदवण्णो दु ।। दीसइ लोयालोओ केवलणाणे तहा जिणिंदस्स । तह दीसइ मुकुरे बिंबु मंगलं तेण तं मुणह ।। जह वीयरायसव्वण्हू जिणवरो मंगलं हवइ लोए । हयरायबालकण्णा तह मंगलमिदि वियाणाहि ।। कम्मारि जिणेविणु जिणवरेहिं मोक्खु जिणाहि वि जेण । जच्चस्स उ अखिल जिणइ मंगलु वुच्चइ तेण ।। पच्चा. टीका.) ।।१३ ।।

सचित्तमङ्गलम् । मिश्रमङ्गलं सालङ्कारकन्यादिः ।

उन दोनोंमेंसे लौकिकमंगल सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका है । इनमें-- 'सिध्दार्थ' अर्थात् श्वेत सरसों, जलसे भरा हुआ कलश, वंदनमाला, छत्र, श्वेत-वर्ण, और दर्पण आदि अचित्त मंगल हैं। और बालकन्या तथा उत्तम जातिका घोडा आदि सचित्त मंगल हैं ।।१३ ।।

अलंकारसहित कन्या आदि मिश्र-मंगल समझना चाहिये । यहां पर अलंकार अचित्त और कन्या सचित्त होनेके कारण अलंकारसहित कन्याको मिश्रमंगल कहा है ।

विशेषार्थ---पंचास्तिकायकी टीकामें भी जयसेन आचार्यने इन पदार्थोंको मंगलरुप माननेमें भिन्न भिन्न कारण दिये हैं । वे इस प्रकार हैं, जिनेन्द्रदेवने व्रतादिकके द्वारा परमार्थको प्राप्त किया और उन्हें सिध्द यह संज्ञा प्राप्त हुई, इसलिये लोकमें सिध्दार्थ अर्थात् श्वेत सरसों मंगलरुप माने गये। जिनेन्द्रदेव संपूर्ण मनोरथोंसे अथवा केवलज्ञानसे परिपूर्ण हैं, इसलिये पूर्णकलश मंगलरुपसे प्रसिध्द हुआ । बाहर निकलते समय अथवा प्रवेश करते समय चौवीस ही तीर्थंकर वन्दना करने योग्य हैं, इसलिये भरत चक्रवर्तीने वन्दन्मालाकी स्थापना की । अरहंत परमेष्ठी सभी जीवोंका कल्याण करनेवाले होनेसे जगके लिये छत्राकार हैं, अथवा सिध्दलोक भी छत्राकार है, इसलिये छत्र मंगलरूप माना गया है। ध्यान, शुक्ललेश्या एत्यादिको श्वेत-वर्णकी उपमा दी जाती है । इसलिये श्वेतवर्ण मंगलरू प माना गया है । जिनेन्द्रदेवके केवलज्ञानमें जिस जिसप्रकार लोक और अलोक प्रतिभासित होता है,उसीप्रकार दर्पणमें भी अपना बिम्ब झलकता है; अतएव दर्पण मंगलरुप माना गया है । जिसप्रकार वीतराग सर्वज्ञदेव लोकमें मंगलस्वरुप हैं, उसी प्रकार बालकन्या भी रागभावसे रहित होनेके कारण लोकमें मंगल मानी गई है । जिसप्रकार जिनेन्द्रदेवने कर्म-शत्रुओं पर विजय पाई, उसी प्रकार उत्तम जातीके घोडेसे भी शत्रु जीते जाते हैं, अतएव उत्तम जातिका घोडा मंगलरुप माना गया है ।। १३ ।।

लोकोत्तरमङ्गलमपि त्रिविधम् सचित्तमचित्तं मिश्रमिति । सचित्तमर्हदादीनामनाद्यनिधनजीवद्रव्यम् । न केवलज्ञानादिमङ्गलपर्यायविशिष्टार्हदादीनाम्, जीवद्रव्यस्यैव ग्रहणम्, तस्य वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भाव इति भावनिक्षेपान्तर्भावात् न केवलज्ञानादिपर्यायाणां ग्रहणम्, तेषामपि भावरुपत्वात् । अचित्तमङ्गलं कृत्रिमाकृत्रिमचैत्यालयादिः, न तत्स्थप्रतिमाः, तासां१ (१ मु. तत्स्थप्रतिमास्तु ।) स्थापनान्तर्भावात् । अकृत्रिमाणां कथं स्थापनाव्यपदेशः ? इति चेन्न, तत्रापि बध्दया प्रतिनिधौ स्थापितमुख्योपलम्भात् । यथा

अग्निरिव माणवकोऽग्निः । तथा स्थापनेव स्थापनेति तासां तव्व्यपदेशोपपत्तेर्वा । तदुभयमपि मिश्रमङ्गलम् ।

लोकोत्तर मंगल भी सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका है । अरहंत आदिका अनादि और अनन्तस्वरुप जीवद्रव्य सचित्त लोकोत्तर नो-आगंमतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगल है । यहांपर केवलज्ञानादि मंगल-पर्याययुक्त अरहंत आदिकका ग्रहण नहीं करना चाहिये, किन्तु उनके सामान्य जीवद्रव्यका ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि, वर्तमान-पर्यायसहित द्रव्यको भाव कहा है । इसलिये उसका भावनिक्षेपमें अन्तर्भाव होता है । इसलिये केवलज्ञानादि वर्तमान पर्यायकी अपेक्षा अरहंतके आत्माकी भावनिक्षेपमें परिगणना होगी । उसकी द्रव्यनिक्षेपमें गणना नहीं हो सकती है । उसी प्रकार केवलज्ञानादि पर्यायोंका भी इस लोकोत्तर नो-आगमद्रव्यमंगलमें ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि, वे सब पर्याएं भावस्वरुप होनेके कारण उनका भी भावनिक्षेपमें ही अन्तर्भाव होगा ।

कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्यालयादि अचित्त लोकोत्तर नो-आगमतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगल हैं । उन चैत्यालयोंमें स्थित प्रतिमाओंका इस निक्षेपमें ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि, उनका स्थापना निक्षेपमें अन्तर्भाव होता है ।

शंका --- अकृत्रिम प्रतिमाओंमें स्थापनाका व्यवहार कैसे संभव है ?

समाधान -- इसप्रकार शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि, अकृत्रिम प्रतिमाओंमें भी बुध्दिव्दारा प्रतिनिधित्व मान लेने पर 'ये जिनेन्द्रदेव हैं ' इस प्रकारके मुख्य व्यवहारकी उपलब्धि होती है । अथवा, अग्नितुल्य बालकको भी जिस प्रकार अग्नि कहा जाता है, उसी प्रकार कृत्रिम प्रतिमाओंमें की गई स्थापनके समान यह भी स्थापना है, इसलिये अकृत्रिम जिन प्रतिमाओंमें स्थापनाका व्यवहार हो सकता है । उक्त दोनों प्रकारके सचित्त और अचित्त मंगलोंको मिश्र-मंगल कहते हैं ।

गुणपरिणत आसनक्षेत्र, अर्थात् जहां पर योगासन, वीरासन इत्यादि अनेक आसनोंसे तदनुकूल अनेक प्रकारके योगाभ्यास, जितेन्द्रियता आदि गुण प्राप्त किये गये हों ऐसा क्षेत्र, परिनिष्क्रमणक्षेत्र, केवलज्ञानोत्पत्तिक्षेत्र और निर्वाणक्षेत्र आदिको क्षेत्रमंगल कहते हैं ।

तत्र क्षेत्रमङ्गलं १ (१ गुणपरिणदासणं परिणिक्कमणं केवलस्स णाणस्स । उप्पत्ती इय पहुदी बहुमेयं खेत्तमंगलयं ।। एदस्स उदाहरणं पावाणगरुज्जयंतचंपादी । आहुट्ठहत्थपहुदी पणुवीसब्भहियपणसयघणूणि ।। देहअवटिठ्दकेवलणाणावट्ठध्दगयणदेसो वा । सेढीघणमेत्तअप्पपदेसगदलोयपूरणं पुण्णं ।। विण्णासं

लोयाणं होदि पदेसा वि मंगलं खेत्तं ।। ति. प. १, २१-२४.) गुण-परिणतासन-परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाण-क्षेत्रादिः । तस्योदाहरणम्, ऊर्ज्जयन्त-चम्पा-पावा-नगरादिः । अर्धाष्टारत्न्यादि २-(२ 'अर्धाष्ट' इत्यत्र 'अर्धचतुर्थ' इति पाठेन भाव्यम्) पंचविंशत्युत्तर-पंच-धनु-शत-प्रमाण-शरीर-स्थित-कैवल्याद्यवष्टब्धाकाश-देशा वा, लोकमात्रात्म-प्रदेशैर्लोक-पूरणापूरित-विश्व-लोक-प्रदेशावा ।

तत्थ काल-मंगलं णाम३ (३ जस्सिं काले केवलणाणादि मंगलं परिणमदि।। परिणिक्कमणं केवलणाणुब्भवणिव्वुदिंपवेसादि । पावमलगालणादो पण्णत्तं कालमंगलं एदं ।। एवं अणेयभेयं हवेदि तक्कालमंगलं पवरं । जिणमहिमासंबंधं णंदीसरदीवपहुदीओ ।। ति. प. १, २४-२६.), जम्हि काले केवल-णाणादि-पज्जएहि परिणदो सो कालो४ (४ मु. परिणदो कालो) पाव-मल-गालणत्तादो मंगलं । तस्योदाहरणम् परिनिष्क्रमण- केवलज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाणदिवसादयः। जिन-महिमा ५ (५ मु. महिम-) सम्बध्द-कालोऽपि मङ्गलम् । यथा नन्दीश्वर-दिवसादिः ।

तत्थ भाव६(६ मंगलपज्जाएहिं उवलक्खियजीवदव्वमेंत्तं च । भांव मंगलमेदं पठियउ सत्थादिमज्झायंतेसु ।। ति. प. १,२७) मंगलं णाम, वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः । स द्विविधः
आगे उदाहरण देकर इसका खुलासा किया जाता है ----

ऊर्जयन्त (गिरनार-पर्वत) चम्पापुर और पावापुर नगर आदि क्षेत्रमंगल हैं । अथवा, साढे तीन हाथसे लेकर पांचसौ पच्चीस धनुष तकके शरीरमें स्थित और केवलज्ञानादिसे व्याप्त आकाश-प्रदेशोंको क्षेत्रमंगल कहते हैं । अथवा लोकप्रमाण आत्मप्रदेशोंसे लोकपूरणसमुध्दातदशामें व्याप्त किये गये समस्त लोकके प्रदेशोंको क्षेत्रमंगल कहते हैं ।

जिस कालमें जीव केवलज्ञानादि अवस्थाओंको प्राप्त होता है उसे पापरुपी मलका गलानेवाला होनेके कारण कालमंगल कहते हैं । उदाहरणार्थ, दीक्षाकल्याण, केवलज्ञानकी उत्पत्ति और निर्वाण-प्राप्तिके दिवस आदि कालमंगल समझना चाहिये । जिन-महिमासम्बन्धी कालको भी कालमंगल कहते हैं । जैसे, आष्टाह्निक पर्व आदि ।

वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्यको भाव कहते हैं । वह आगमभावमंगल और नोआगम-भावमंगलके भेदसे दो प्रकारका है । आगम सिध्दान्तको कहते हैं, इसलिये जो मंगलविषयक शास्त्रका ज्ञाता होते हुए वर्तमानमें उसमें उपयुक्त है उसे आगमभावमंगल कहते हैं । नो-आगम-भावमंगल, उपयुक्त और तत्परिणतके भेदसे दो प्रकारका है । जो आगमके विना ही मंगलके अर्थमें उपयुक्त है उसे उपयुक्त नो-आगमभावमंगल कहते हैं और मंगलरुप पर्याय अर्थात् आगम-नोआगमभेदात् । आगमः सिध्दान्तः ।

आगमदो मंगल-पाहुड-जाणओ उवजुत्तो । णो-आगमदो भाव-मंगलं दुविहं-उपयुक्तस्तत्परिणत इति। आगममन्तरेण अर्थोपयुक्त उपयुक्तः । मङ्गलपर्यायपरिणतस्तत्परिणत इति ।

एदेसु णिक्खेवेसु केण णिक्खेवेण पयोजणं ? णो-आगमदो भाव-णिक्खेवेण तप्परिणएण पयोजणं । जदि णो-आगमदो भाव-णिक्खेवेण तप्परिणदेण पयोजण-मियरेहि णिक्खेवेहि इह किंपयोजणं ?

जत्थ बहुं जाणिज्जा अवरिमिदं तत्थ णिक्खिवे णियमा ।

जत्थ बहुवं ण जाणदि चउट्ठयं णिक्खिवे तत्थ (१ जत्थ य जं जाणेज्जा निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं । जत्थ वि अ न जाणेज्जा चउक्कगं निक्खिवे तत्थ ।। अनु. द्वा. १, ६.) ।। १४ ।।

इदि वयणादो णिक्खेवो कदो ।

अथ स्यात्, किमिति निक्षेपः क्रियत इति ? उच्यते, त्रिविधाः श्रोतारः, अव्युत्पन्नः

जिनेन्द्रदेव आदिकी वन्दना, भावस्तुति आदिमें परिणत जीवको तत्परिणत नोआगमभावमंगल कहते हैं ।

शंका-- इन निक्षेपोंमेंसे यहां (इस ग्रन्थावताररुप प्रकरणमें) किस निक्षेपसे प्रयोजन है ?

समाधान-- यहांपर तत्परिणत नोआगमभावमंगलरुप निक्षेपसे प्रयोजन है ।

शंका-- यदि यहां तत्परिणत नोआगमभावमंगलरुप निक्षेपसे प्रयोजन है, तो अन्य निक्षेपोंके कथन करनेसे यहां क्या प्रयोजन है ? अर्थात् प्रयोजनकेविना उनका यहां कथन नहीं करना चाहिये था ।

समाधान-- जहां जीवादि पदार्थोंके विषयमें बहुत जाने, वहांपर नियमसे सभी निक्षेपोंके द्वारा उन पदार्थोंका विचार करना चाहिये । और जहांपर बहुत न जाने, तो वहांपर चार निक्षेप अवश्य करना चाहिये । अर्थात् चार निक्षेपोंकेद्वारा उस वस्तुका विचार अवश्य करना चाहिये ।। १४ ।।

इस वचनकेअनुसार यहांपर निक्षेपोंका कथन किया गया।

पूर्वोक्त कथनकेमान लेने पर भी, किस प्रयोजनको लेकर निक्षेपोंका कथन किया जाता हैं, इस प्रकारकी शंका करने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि श्रोता तीन प्रकारकेहोते हैं, पहला अव्युत्पन्न अर्थात् वस्तु-स्वरुपसे अनभिज्ञ, दूसरा संपूर्ण विवक्षित पदार्थको जाननेवाला, और तीसरा एकदेश विवक्षित पदार्थको जाननेवाला । इनमेंसे पहला श्रोता अव्युत्पन्न होनेके कारण विवक्षित पदकेअर्थको कुछ भी नहीं समझता है। दूसरा 'यहां पर इस पदका कौनसा अर्थ अधिकृत है' इस प्रकार विवक्षित पदकेअर्थमें संदेह करता है, अथवा, प्रकरणप्राप्त अर्थको अवगताशेषविवक्षितपदार्थः एकदेशतोऽवगतविवक्षितपदार्थ इति । तत्र प्रथमोऽ व्युत्पन्नत्वान्नाध्यवस्यतीति । विवक्षितपदस्यार्थ द्वितीयः संशेते कोऽर्थोऽस्य पदस्याधिकृत इति,

प्रकृतार्थादन्यमर्थमादाय विपर्यस्यति वा । द्वितीयवत्तृतीयोऽपि संशेते विपर्यस्यति वा । तत्र यद्यव्युत्पन्नः पर्यायार्थिको भवेन्निक्षेपः क्रियते अव्युत्पन्नव्युत्पादनमुखेन अप्रकृतनिराकरणाय । (१ ननु निक्षेपाभावेऽपि प्रमाणनयैरधिगम्यत एव तत्वार्थ इति चेन्न, अप्रकृतनिराकरणार्थत्वात्, प्रकृत-प्ररुपणार्थत्वाच्च निक्षेपस्य । न खलु नामादावप्रकृते प्रमाणनयाधिगतो भावो व्यवहारायालं, मुख्योपचार-विभागेनैव तत्सिध्देः। न च तद्विभागो नामादिनिक्षेपैर्विना संभवति, येन तदभावेऽपि तत्वार्थाधिगतिः स्यात् । लघीय. पृ. ९९.) । अथ द्रव्यार्थिकःतद्द्वारेण प्रकृतप्ररुपणायाशेषनिक्षेपाः उच्यन्ते, व्यतिरेकधर्मनिर्णयमन्तरेण विधिनिर्णयानुपपत्तेः । द्वितीयतृतीययोः संशयितयोः संशयविनाशायाशेषनिक्षेपकथनम् । तयोरेव विपर्यस्तयोः (२ मु. विपर्यस्यतोः ।) प्रकृतार्थावधारणार्थं निक्षेपः क्रियते । उत्तं च--

अवगय-णिवारणट्ठं पयदस्स परुवणा-णिमित्तं च ।
संसय-विणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च ।। १५ ।।

छोड कर और दूसरे अर्थको ग्रहण करके विपरीत समझता है । दूसरी जातिके श्रोताके समान तीसरी जातिका श्रोता भी प्रकृत पदकेअर्थमें या तो संदेह करता हैं अथवा, विपरीत निश्चय कर लेता है।

इनमेंसे यदि अव्युत्पन्न श्रोता पर्यायका अर्थी अर्थात् पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा वस्तुकी किसी विवक्षित पर्यायको जानना चाहता है, तो उस अव्युत्पन्न श्रोताको प्रकृत विषयकी व्युत्पत्तिके द्वारा अप्रकृत विषयके निराकरण करनेके लिये निक्षेपका कथन करना चाहिये । यदि वह अव्युत्पन्न श्रोता द्रव्यार्थिक है, अर्थात् सामान्यरुपसे किसी वस्तुका स्वरुप जानना चाहता है, तो भी निक्षेपोंके द्वारा प्रकृत पदार्थके प्ररुपण करनेके लिये संपूर्ण निक्षेप कहे जाते हैं, क्योंकि, व्यतिरेक धर्मके निर्णयके विना विधिका निर्णय नहीं हो सकता है । दूसरी और तीसरी जातिके श्रोताओंको यदि संदेह हो, तो उनके संदेहको दूर करनेके लिये संपूर्ण निक्षेपोंका कथन किया जाता है। और यदि उन्हें विपरीत ज्ञान हो गया हो, तो प्रकृत अर्थात् विवक्षित वस्तुकेनिर्णयकेलिये संपूर्ण निक्षेपोंका कथन किया जाता है । कहा भी है--

अप्रकृत विषयके निवारण करनेके लिये, प्रकृत विषयके प्ररुपण करनेके लिये, संशयका विनाश करनेकेलिये, और तत्वार्थका निश्चय करनेकेलिये निक्षेपोंका कथन करना चाहिये । १५ ।

अथवा सम्भव है कि निक्षेपोंको छोडकर वर्णन किया गया सिद्धान्त वक्ता और श्रोता दोनोंको कुमार्गमें ले जावे, इसलिये भी निक्षेपोंका कथन करना चाहिये ।

अब मंगलके एकार्थ-वाचक नाम कहते हैं, मंगल, पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, निक्षेपविसृष्टः सिद्धान्तो वर्ण्यमानो वक्तुः श्रोतुश्चोत्पथोत्थानं कुर्यादिति वा ।